मूल्य २॥)

सुप्रभात

सुदर्शन

बनारस
सरस्वती प्रेस

प्रकाशक :
सरस्वती-प्रेस,
बनारस ।

तीसरा संस्करण

मुद्रक :
श्रीपतराय
सरस्वती-प्रेस, बनारस ।

सूची।

भूमिका

कहानी का कविता और नाटक के साथ गहरा संबन्ध है। किसी वृत्तान्त को रोचक ढंग से कहने का नाम कहानी है। उस रोचकता ही में कविता का निवास है। रामायण महाभारत आदि को कहानी कहें अथवा कविता? नाटक की वस्तु का क्या अभिप्राय है।

जीवन और साहित्य में कहानी का विशेष स्थान है। सौन्दर्य और संगीत से उतरकर कहानी ही मनुष्य के हृदय को वशीभूत करती है। इसमें अनुभव है, सहानुभूति है और अद्भुत रस है—इसमें व्याख्या है, इतिहास है और कविता है। बच्चा किस चाव से, किस आदर-भाव से, कहानी सुनता है! बच्चे ही की प्रवृत्तियाँ तो मनुष्य में परिणत होती हैं। सांसारिक वासनाओं के पीछे भटक-भटककर जब वह थक जाता है तो उसकी थकावट कहानी का अमृत पीकर दूर होती है, क्योंकि मनुष्य का जीवन स्वयं एक सजीव कहानी है! प्राचीन सभ्यताओं में कहानी का आसन बहुत ऊँचा माना गया है। समय बदल गया है, मायावादी सभ्यता का साम्राज्य है। पर अब भी पत्थरों और इंजनों की खड़खड़ाहट में कविता और कहानी का रसीला स्वर सुनाई देता है। अनवरत सकाम कर्म की धूप में मनुष्य की हृत्तन्त्री अपना मोहन पद अलाप रही है। कविता, नाटक और कहानी आत्मा की जन्म-सिद्ध प्यास बुझा रही हैं।

पूर्व काल में झंझट थोड़े थे, प्राकृतिक सौन्दर्य में निवास था, और सरलता का पूजा-भाव था। तब कविता-कहानी के नायक देव, महावीर, नरेश और प्रकृति ही के अलङ्कार-जनित व्यक्ति थे। उनके अतिमानव और असाधारण चरित्र में आदर्श और आश्चर्य की सामग्री थी। यह हमारे पूर्वजों को तृप्त करने के लिए पर्याप्त थी। आज झंझट बढ़ रहे हैं, सौन्दर्य कृत्रिमता की गोद में पल रहा है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

दिन-प्रति-दिन प्रबल हो रही है। जीवन के दो भिन्न आदर्श एक दूसरे के साथ टक्कर खा रहे हैं। दो भिन्न सभ्यताओं के समागम से कविता-कहानी के भी रङ्ग बदल रहे हैं। पुरानी शराब नई बोतलों में भरी जा रही है। प्राचीन आदर्श नये साँचे में ढल रहे हैं। हमारे सामने चलते-फिरते व्यक्ति और उनके साधारण काम हमारी कल्पना में इन्द्र, कृष्ण और दुष्यन्त तथा उनके असाधारण पराक्रमों का स्थान ले रहे हैं।

भारतीय भाषाओं में यह लहर अभी नई है। सुदर्शन के सुप्रभात में हम साहित्य के इस नये युग के प्रभात का दर्शन भली भाँति करते हैं। सुप्रभात में कविता की छटा है। इसमें भावों की भीनी-भीनी सुगन्ध है, जो उनके नव-प्रकाशित चन्दन से अधिक स्फुट हो उठी है। सुप्रभात में ग्यारह पोलिटिकल कहानियाँ हैं। उन्हें जो भी पढ़ेगा, मुग्ध हो जायेगा। उनका प्रभाव उसके हृदय पर अङ्कित हो जायेगा। नवयुवक कर्त्ता की सुन्दर लेखनी में कहानी लिखने की शक्ति जन्म-सिद्ध है। प्रथम किरण अँधियारी रात का जादू तोड़ती है, तो अमरीकन रमणी की अस्थियाँ भारत की पुण्य भूमि के लिए उत्कण्ठित हैं। अकाली फूला सिंह के आगे बेड़ियों में जकड़े हुए रणजीत सिंह पर कौन श्रद्धा के फूल न चढ़ायेगा? अब्बास भी देशभक्त बन जाता है और अब्दुलरहीद को कारागार मुक्ति का साधन जान पड़ता है। सेठानी के चरखे से देश-भक्ति का अमर गीत निकल रहा है। 'जब आँखें खुलती हैं' अन्तिम कहानी है और नाटक के रूप में दी गई है—वाराङ्गना वीराङ्गना में परिवर्तित हो जाती है।

सुदर्शन ने हिन्दी ही के नहीं, समस्त भारत के श्रेष्ठ कहानी-लेखकों में स्थान प्राप्त कर लिया है—अभी उनकी प्रतिभा का सुप्रभात है।

बृजलाल शास्त्री,

एम० ए०, एम० ओ० एल०

प्रथम किरण

एकाएक अँधेरी रात में एक आवाज़ आई, 'क्या मुझे रास्ता नहीं मिलेगा ?'

बीहड़ जंगल में एक गूँज उत्पन्न हुई, और कुछ क्षणों में मर गई। जिस प्रकार समुद्र में कोई चीज़ गिरती है, तो उसकी तरंगें उसे देखते-देखते निगल जाती हैं, उसी तरह यह आवाज़ भयानक सन्नाटे में डूब गई और सुदीर्घ मौन शान्ति के साथ बीहड़ कण्टक वन पर लहराने लगा।

रात का समय था, आकाश पर कहीं-कहीं तारे चमक रहे थे। परन्तु उनकी शक्तिहीन ज्योति को भूमि का अन्धकार क्षण-क्षण में परास्त करता हुआ आकाश की ओर वापस ढकेल रहा था। सोते हुए लोगों के सपने काल्पनिक प्रकाश से जगमगा रहे थे, परन्तु उनके चारों ओर विश्वव्यापी अन्धकार छाया हुआ था। इस अन्धकार के साथ सन्नाटे ने मिलकर समय को और भी भयङ्कर बना दिया था। बस्ती के साथ कुछ दूर एक जंगल में यह आवाज़ दूसरी बार सुनाई दी—'क्या मुझे रास्ता नहीं मिलेगा ?'

यह आवाज़ जंगल के किनारों से टकराई और अबके अपने साथ उत्तर लाई—

'तू कौन है ?'

'एक भूला हुआ मुसाफ़िर !'

'किधर जाना चाहता है ?'

'प्रकाशपुरी को ।'

जंगल में फिर सन्नाटा छा गया । अन्धकार और भी घना हो गया । सवाल-जवाब की गूँज धीरे-धीरे सन्नाटे में लोप हो गई, जिस प्रकार पत्थर फेंकने से जल में चक्कर पैदा होकर थोड़ी दूर तक जाते-जाते जल के प्रवाह में लुप्त हो जाते हैं । इतने में फिर आवाज़ सुनाई दी, 'मुसाफ़िर ! भूला हुआ रास्ता आसानी से नहीं मिल सकता । उसके लिए बलिदान की आवश्यकता है ।'

उत्तर मिला—'मैं इसके लिए भी तैयार हूँ।'

'तू काहे की बलि देगा ?'

'जीवन की ।'

'देवता इसे स्वीकार नहीं करते ।'

'फिर मैं और क्या दे सकता हूँ ?'

स्वर में नम्रता थी ।

'देवता जीवन नहीं माँगते । वे जीवन के भोगों की, जीवन की लालसाओं की, जीवन के सुखों की, और जीवन की विषय-वासनाओं की बलि माँगते हैं । बोलो, क्या तैयार हो ?'

मुसाफ़िर ने अँधेरे में एक वृक्ष का सहारा लिया, और उत्तर दिया—'मैं तैयार हूँ ।'

'समझ-सोचकर उत्तर दो ।'

'जो सोचना था, सोच चुका । अब रास्ता दिखा दीजिए ।'

इतने में जंगल रोशन हो गया, जैसे किसी ने प्रकाश का स्रोत खोल दिया हो । मुसाफ़िर के रोम-रोम में आनन्द की लहरें उठने लगीं; और हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा । उसने दोनों हाथ जोड़कर देवता को प्रणाम किया और श्रद्धा के साथ उसके चरणों से लिपट गया ।

देवता ने उसे आशीर्वाद दिया और कहा, 'मुसाफ़िर ! मैं तुम्हारे आत्म-बलिदान के बदले तुम्हें एक भाव देता हूँ, जो तुम्हें तुम्हारी वास्तविक स्थिति का अनुभव

करायेगा, बाह्य वृत्ति छोड़कर अपना अन्दर देखने की प्रेरणा करेगा, स्वार्थ पर कर्त्तव्य को और झूठे प्रेम पर पवित्र आत्म-सत्ता को महत्त्व देने में सहायता देगा। वह भाव तेरे रक्त को गति, गति को धैर्य्य, और धैर्य्य को साहस देगा। यह काया-पलट-भाव वह भाव है, जिससे उखड़ते हुए पैर थम जाते हैं, और गिरते हुए साहस स्थिर हो जाते हैं। यह वह मदिरा है जिससे संसार के दुःख भूल जाते हैं और उनके स्थान में आनन्द का अनुभव होता है।'

मुसाफ़िर के मरे हुए शरीर में प्राण आ गये। उसने इस स्वर्गीय पुरस्कार को कृतज्ञता के हाथों लेते हुए देवता से पूछा, 'महाराज! मेरा रास्ता किधर है?'

देवता ने अपनी सांवरी, बांकी, लम्बी उँगली से पीछे की ओर इशारा किया और लोप हो गया। चारों ओर फिर अन्धकार छा गया।

मुसाफ़िर ने देवता के बताये हुए रास्ते की ओर मुँह मोड़ा, और उसके दिये हुए पवित्र भाव को छाती से लगा लिया। वन की चिड़ियाँ अपनी आत्मा की पूर्ण-शक्ति के साथ कलरव करने लगीं। सोती हुई प्रकृति जाग उठी। अँधेरी रात का जादू टूट गया। मुसाफ़िर पर ब्रह्मानन्द की मस्ती छा गई थी, मानो वह स्वर्ग में पहुँच गया हो। आकाश-मण्डल से भगवान् भास्कर ने अपना सुनहरा सिर ऊँचा किया, और अपनी पहली किरण मुसाफ़िर के मुख-मण्डल पर फेंकी।

मुसाफ़िर का हृदय-कमल खिल उठा, और वह तेज़ी के साथ अपनी राह पर चलने लगा।

अमरीकन रमणी

[१]

मैं उन सौभाग्यवती स्त्रियों में से थी, जो अपने-आप पर आप ईर्ष्या करती हैं। स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सम्पत्ति यही तीन वस्तुएँ हैं, जो संसार की अनमोल वस्तुएँ समझी जाती हैं। परमेश्वर ने मुझे यह तीनों वस्तुएँ दे रखी थीं। और इतना ही नहीं, मेरे नाम के डंके अमरीका के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक बज रहे थे। मैं अमरीका की सर्वोत्कृष्ट ऐक्ट्रेस थी। समाचार-पत्रों में मेरी प्रशंसा के पुल बाँधे जाते थे। लोग मेरा नाम सुनकर मतवाले हो जाते थे। यूनिवर्सल थियेट्रिकल कम्पनी के डाइरेक्टर मेरे पार्ट पर लट्टू थे। मैं जब स्टेज पर जाती, तो लोग गुलदस्तों और फूलों के हारों से मुझे लाद देते थे, और उसके बाद चित्रवत् मौन हो जाते थे। मैं जब बोलती, तो लोग अपने-आपको भूल जाते थे। मेरा एक-एक कटाक्ष, मेरे पावों की एक-एक हरकत, मेरी वक्तृता का एक-एक शब्द जनता के हृदयों में हलचल मचा देता था। वे मेरी ओर इस तरह प्यासी आँखों से देखते थे, जिस तरह चकोर का बच्चा चाँद को देखता है। लोगों के इस भाव को देखकर मेरा हृदय आनन्द से भर जाता था।

जब पहले-पहल मैंने यूनिवर्सल कम्पनी में नौकरी की, उस समय वह कम्पनी

साधारण कम्पनी थी, परन्तु मेरे वहाँ जाते ही उसके अन्दर नया जीवन आ गया और वह देश की बड़ी-बड़ी कम्पनियों में गिनी जाने लगी। इसके बाद ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते गए, मेरी कीर्ति और लोकप्रियता बढ़ती गई; यहाँ तक कि अमरीका के प्रसिद्ध दैनिक समाचार-पत्र 'अबज़र्वर' ने एक लम्बा लेख लिखकर मुझे नाट्य-संसार का एक 'नया सितारा' सिद्ध किया। इतना ही नहीं, उसने मेरे कई फ़ोटो छापे, और मेरे आर्ट पर अत्यन्त साहसवर्द्धक रिमार्क दिये।

इस लेख का निकलना था कि मेरी कीर्ति को पर लग गये। यूनिवर्सल कम्पनी अब अमरीका की सबसे बड़ी कम्पनी थी। उसमें दर्शकों की भीड़ रहती थी। उसमें प्रायः लोगों को टिकट न मिलने के कारण निराश लौटना पड़ता था। उस समय उनके मुख पर निराशा टपकती थी। डाइरेक्टर का दिल बढ़ा हुआ था, उसने टिकट बढ़ा दिया, परन्तु तमाशाइयों में फिर भी कमी न हुई। हमारी आय दिन-पर-दिन बढ़ने लगी, यहाँ तक कि कम्पनी की ख्याति के लिए अमरीका अपर्य्याप्त सिद्ध हुआ। एक दिन मैंने हँसते-हँसते कम्पनी के प्रोप्राइटर से कहा—'अब क्यों न यूरोप चला जाये। वहाँ भी नाटकों के शौकीन थोड़े नहीं हैं।'

प्रोप्राइटर ने मेरी ओर ऐसी भावपूर्ण दृष्टि से देखा, मानो मैंने बाईबल की कोई आयत पढ़ दी हो, और कहा—'अवश्य चलना चाहिए।'

और दूसरे सप्ताह हमारी कम्पनी यूरोप को रवाना हो गई।

[२]

इंग्लिस्तान के तट पर पाँव रखते ही मुझे अभिमान होने लगा। अमरीका से बाहर निकलने का मेरे लिए यह पहला अवसर था। इससे पहले मैं कभी यूरोप न आई थी। परन्तु इंग्लिस्तान पहुँचकर मालूम हुआ कि मेरी कीर्ति मुझसे पहले वहाँ पहुँच चुकी है। तट पर कई समाचार-पत्रों के रिपोर्टर विद्यमान थे, जो मुझसे (Interview) इंटरव्यू के लिए समय नियत करने आये थे। उनमें से कुछ अपने साथ कैमरे भी लेते आये थे। इससे उनका प्रयोजन अपने पत्रों में मेरा फोटो देना था। वे पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता में एक साथ मुझ पर टूट पड़े। इससे मैं घबरा गई। परन्तु इस घबराहट में अभिमान और आनन्द मिला था। जिस प्रकार मनुष्य

कभी कभी अत्यन्त आनन्द की अवस्था में रोने लगता है, उसी प्रकार मैं इस अभ्यर्थना के जोश को न संभाल सकी। मैं घबराकर दूर हट गई। और ऐक्ट्रेसों के-से कटाक्ष से बोली—'इस समय मैं किसी को फोटो न लेने दूँगी। मेरा मन अभी ठिकाने नहीं। कल प्रातःकाल ग्रांड होटल में आओ। वहाँ मैं तुम्हें समय दे सकूँगी।'

दूसरे दिन सारे समाचार-पत्र मेरी प्रशंसा से भरे हुए थे। किसी ने मुझे काफ़ की परी लिखा था, किसी ने स्वर्ग की अप्सरा। किसी ने मेरे अलौकिक रंग की प्रशंसा की थी, किसी ने रूप-लावण्य की। एक समाचार-पत्र ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि मिस मेरीन हमारे संसार की नारी मालूम नहीं होती। उसे देखकर मनुष्य दंग रह जाता है। एक और समाचार-पत्र ने लिखा था, मिस मेरीन अपने व्यावहारिक जीवन में भी अभिनय करती है। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो अभिनय करना उसकी प्रकृति पर छा गया है। उसकी आँखें देखकर यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि प्रकृति ने उसे रंगमच पर शासन करने के लिए जन्म दिया है। एक दूसरे समाचार-पत्र ने लिखा था, मिस मेरीन संसार भर की सर्वोत्कृष्ट ऐक्ट्रेस हैं, जिनके खेल निस्सन्देह इंग्लिस्तान के नाटक-संसार में कई नवीन भाव प्रवेश करने के कारण होंगे। मैं इन नोटों को पढ़ती थी और आनन्द से झूमती थी।

खेल आरंभ हुए। मैं अत्युक्ति नहीं करती, लोगों ने हमारी आशाओं से बढ़कर हमारा सम्मान किया। रात को ऐसा प्रतीत होता था, जैसे सारा नगर थिएटर-हाल में उमड़ आने को है। जब मैं स्टेज पर आती तो लोग अन्धाधुन्ध तालियाँ पीटकर मेरा स्वागत करते। साथ ही स्टेज फूलों और गुलदस्तों से भर जाता। परन्तु यह स्वागत केवल फूलों तक ही न था, उनके साथ नोट बँधे होते थे। सौन्दर्य में इतना जादू है, यह मुझे पहली बार मालूम हुआ।

थोड़े ही दिन में मेरे चाहनेवालों की संख्या बढ़ने लगी। उनमें एक भारतीय नवयुवक मदनलाल विशेषतया उल्लेखनीय है। मैंने सुन्दर से सुन्दर अमरीकन देखे हैं। परन्तु ऐसी मनोहर, ऐसी सुन्दर छबि एक ही बार देखी है। वह चेहरे-मोहरे से कोई राजकुमार जान पड़ता था। मैंने कई करोड़पति देखे हैं, जो आन की आन

में हज़ारों रुपये खर्च कर डालते हैं, परन्तु उनकी बात-बात में अभिमान की गन्ध आती है। मगर मदनलाल की उदारता में ओछापन न था। ये नाटक में मेरी ओर कभी नोट न फेंकते थे, उन्हें एक गुलदस्ता और एक फूल फेंकने में भी संकोच था। वे जब होटल में मेरे पास आते, उस समय भी अपनी अमीरी का दिखावा न करते। वे इसे भारतीय सभ्यता से गिरा हुआ समझते थे। हाँ, जब बाज़ार में मुझे कोई वस्तु खरीदनी होती तो बेपरवाही से रुपया दे देते, और मेरे धन्यवाद करने से पहले ही मुस्कुराकर कहते, 'इसकी आवश्यकता नहीं।'

मैंने वाह-वाह के लिए ख़ज़ाने लुटानेवाले देखे हैं। मैंने नामवरी के लिए जीवन देते हुए भी देखे हैं, परन्तु इस प्रकार एकान्त में अपना रुपया लुटानेवाला यही भारतीय नवयुवक देखा है, जो उस समय आगे बढ़ता था, जब उसे देखनेवाली कोई आँख निकट न होती थी।

[३]

इसी तरह कई महीने बीत गये, मदनलाल की चाह में रत्ती-भर कमी न हुई। वे रात को नाटक में आते, दिन को होटल में। यह उनका दैनिक कार्य-क्रम था, जिसमें कभी चूक न होती थी। उनकी आँखें अधीर थीं, मुख उदास। प्रायः बैठे-बैठे ठण्डी आह भरकर चौंक उठते थे। मैंने कई बार इसका कारण पूछने की चेष्टा की, परन्तु वह जवाब न दे सकते थे। जान पड़ता था, उनके हृदय में कोई विशेष बात थी, जिसे वे मुझ पर प्रकट करना चाहते थे, परन्तु जब वह बोलने लगते, तो कोई शक्ति उनका मुँह बन्द कर देती और वे हिचकिचाकर चुप हो जाते थे। वे इतने लज्जालु और सीधे थे कि एक स्त्री के सामने भी अपना दिल न खोल सकते थे। मैं उनकी दशा को समझ गई और हर वह स्त्री जो थोड़ी-सी भी बुद्धि रखती है, इस बात को भाँप जाती। मगर मेरे कान उसके प्रेम के दो शब्दों के भूखे थे। अमरीकन स्त्री इतना प्रेम को नहीं चाहती, जितना प्रेम के शब्दों को चाहती है। 'मैं तुम्हें चाहता हूँ' कैसा मधुर वचन है; कैसी मनोहारी कल्पना! स्त्री के हृदय को मुग्ध कर देनेवाला जादू! उसके मन में हलचल मचा देनेवाला ख़्याल! धीरे-धीरे मेरे हृदय में एक नये विचार ने सिर उठाया। मदनलाल के आने में ज़रा भी देर

हो जाती, तो चित्त व्याकुल हो जाता। रात को नाटक में वे दिखाई न देते तो याद किये हुए शब्द होठों पर जम जाते। वे दिखाई दे जाते तो कलेजा धड़कने लगता, आँखें नृत्य करने लगतीं। मुझे ऐसा सन्देह होने लगा, मानो मदनलाल ने मुझ पर जादू कर दिया है। मैं उनके बिना रह न सकती थी। उनकी बातचीत मेरे नीरस जीवन में अमृत घोल देती थी। मैंने सैकड़ों नवयुवक देखे थे, परन्तु जो बात मदनलाल में थी वह किसी में भी न थी। वे मुझ पर मुग्ध थे; मुझे देखे बिना एक दिन बिताना भी उनके लिए दुष्कर था, उनकी आँखों में प्रेम की प्यास थी और हृदय में अधीरता। परन्तु ऐसा होते हुए भी उन्होंने आत्माभिमान को हाथ से नहीं जाने दिया। उन्होंने कभी भावुकता से भरे हुए वचन नहीं कहे। एकान्त की घड़ियाँ आईं और चली गईं, परन्तु मदनलाल ने कभी उनसे लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की। उनके इन गुणों ने मेरे हृदय में अपना घर कर लिया। एक भारतीय नवयुवक प्रेम की जलन को किस शान्ति और धीरज के साथ सहन कर सकता है, यह मुझे पहला अनुभव हुआ। ख़्याल आया, जहाँ के पुरुष इतने साहसवाले हैं, वहाँ की स्त्रियों की क्या दशा होगी ? मेरा मन बस में न रहा। प्रेम के प्रकट करने में स्त्रियाँ पुरुषों पर विजय पाती रही हैं। मैं एक भारतीय से हार गई और एक दिन टूटे-फूटे शब्दों में अपना हृदय मदनलाल के सामने खोल दिया।

मदनलाल का मुँह अनार के फूल के समान लाल हो गया, जैसे कोई अनहोनी बात हो गई हो। जिस तरह किसी कन्या के मुख पर विवाह की बात-चीत सुनकर लज्जा की लाली दौड़ जाती है, वही अवस्था मदनलाल की हुई। मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न थी। परन्तु मेरा हृदय विवश था। मैंने अपनी बात फिर दोहराई—'मदनलाल ! जानते हो, तुम्हारे बिना मेरा क्या हाल होता है ?'

मदनलाल को बोलने की शक्ति मिल गई। सिर झुकाकर बोले—'मेरीन ! मैंने सुना था कि भारतीय पुरुष स्त्रियाँ हैं और अमरीका की स्त्रियाँ पुरुष। आज इसका प्रमाण मिल गया।'

क्या रसीले शब्द थे, हृदय की अवस्था का सच्चा चित्र। मेरे रोम-रोम में आनन्द की लहर उठने लगी। जिस प्रकार फूलों में शहद छिपा रहता है, उसी

प्रकार इन शब्दों में प्रेम छिपा था। कौन कहता है, भारतीय असभ्य हैं? जो अपने प्रेम को ऐसे सभ्य शब्दों में प्रकट कर सकते हैं, जो अपने मन की आग को इस तरह छिपा सकते हैं; उनको असभ्य कहना अपने आपको असभ्य कहना है।

मैं सोफे पर बैठी थी, मेरा हृदय अपने आपेमें न रहा। मैं जोश से कान में पड़े हुए मोती की तरह काँपती हुई बोली—'तो तुम मुझे चाहते हो! तुम मुझे प्यार करते हो?'

मदनलाल की आँखों में आनन्द की झलक थी, परन्तु वे पागल नहीं हो गये। उनके मुखमंडल से ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनके हृदय में विचारों की उथल-पुथल हो रही है, परन्तु उन्होंने अपने आपको वश में रखा, और धीरे से उत्तर दिया—'इसका उत्तर मेरी आँखों से पूछो।'

मैंने हँसते हुए आगे बढ़कर उनकी आँखों में झाँककर देखा और कहा—'वहाँ तो मैं बैठी हूँ।'

'कहाँ?'

'तुम्हारी आँखों में।'

मदनलाल ने मेरे हाथ पकड़ लिये। इस समय उनका अंग-अंग थर्रा रहा था। वह बोले, 'मेरीन डीयर! तुम मुझसे अन्याय कर रही हो, जो कहती हो कि तुम केवल मेरी आँखों में बस रही हो। अगर अच्छी तरह देखो तो मेरे शरीर के एक-एक परमाणु में, मेरे रक्त के एक-एक बिन्दु में, मेरे विचार की एक-एक तरंग में तुम मौजूद हो। मेरा मन तुम्हारी भेंट हो चुका है। मेरे स्वप्न तुम्हारी स्मृति के अर्पण हो चुके हैं। मेरा सुख तुम्हारी याद में लीन हो गया है।'

जब नदी का बाँध खुल जाता है, तो जल पूर्ण वेग से बहने लगता है। इसी प्रकार मदनलाल प्रेम के प्रवाह में बह रहे थे।

इस समय का यह प्रेम पर भाषण करनेवाला नवयुवक उस पहले 'लज्जालु', 'चुपचाप', 'सीधे सादे' मदनलाल से कितनी दूर, कितना परे था।

मदनलाल बैठ गये। उनका मुखमंडल शान्त था, जैसे तूफान के पश्चात् समुद्र शान्त हो जाता है। मैंने उनकी ओर देखा, उन्होंने मेरी ओर देखा। इन निगाहों में

प्रेम के दफ़्तर छिपे हुए थे। मैं प्रेम के रंग में रँगी गई। मैं अपने आप पर ईर्ष्या करती थी और समझती थी कि ऐसे नवयुवक के प्रेम को जीत लेना एक भारी सफलता है। इन दिनों मेरे ऐक्टिङ्ग की धूम मच गई। मैं जोश में भरी हुई रंगमंच पर जाती थी, और दर्शकों के हृदयों में हलचल मचा देती थी। यह दिन मेरे जीवन के सुनहरे दिन थे, जिन पर संसार-भर के सारे ऐश्वर्य्य निछावर किये जा सकते हैं।

मैं जिस-जिस नगर में गई, मदनलाल मेरे साथ गये। कभी उन्होंने मुझ पर जादू किया था, अब उन पर मेरा जादू चल रहा था। वे मेरे रूप पर मुग्ध हो गये, और अपना देश, उद्देश्य, काम सब कुछ भूल बैठे। ठीक उसी तरह जिस तरह बालक स्कूल को जाते समय कोई तमाशा देखकर स्कूल का ख़्याल भूल जाता है। उनके पास रुपये की कमी न थी। वे खुले हाथों खर्च करते थे, और उन्हें इस बात की कोई परवा न थी कि रुपया समाप्त हो जायेगा, तो क्या होगा?

इसी प्रकार कुछ वर्ष बीत गये। मेरा हृदय मदनलाल से उचाट हो गया। उन्हीं दिनों एक बड़े धनाढ्य बूढ़े सौदागर से मेरा परिचय हुआ। वह असल में अमरीका का रहनेवाला था, इंगलिस्तान में कारोबार के लिए आया हुआ था। अब वह बहुत-सा रुपया कमाकर वापस जानेवाला था। मुझे देखकर वह लट्टू हो गया। मेरी दृष्टि उसके रुपये पर पड़ी। मदनलाल के पास अब रुपये की कमी होने लगी थी। मैंने इस धनाढ्य बूढ़े की ओर आँखें उठाईं और अमरीका पहुँचते-पहुँचते ही उससे ब्याह कर लिया।

[४]

अब मैंने रंग-मंच छोड़ दिया और न्यूयार्क में अमीरों की शान से रहने लगी। परन्तु मदनलाल का जीवन दुःखमय हो गया। उन्हें यह आशा नहीं थी कि मैं उनसे इस तरह आँखें फेर लूँगी। एक दिन मेरे पास आकर बोले, 'मैं नहीं समझता था कि तुम इतनी बेवफ़ा होगी!'

मेरे लिए यह शब्द असह्य थे। मैंने गर्म होकर कहा, 'तो क्या तुम्हारा यह अभिप्राय है कि तुम मेरी अपनी छत के नीचे मेरा अपमान करने आये हो!'

मदनलाल बैठे थे, यह सुनकर खड़े हो गये, और धीरे-धीरे कहने लगे, 'तुम्हारा

अपमान करने ! नहीं मेरीन ! तुम भूलती हो । संसार में कोई बुरा से बुरा शब्द ऐसा नहीं, जो तुम्हारे अपमान के लिए कहा जा सकता हो । तुमने मेरे साथ धोखा नहीं किया, कर्त्तव्य, प्रेम, मनुष्यत्व, देश-प्रेम और स्त्री-जाति के स्त्रीत्व के साथ धोखा किया है । मेरे हृदय में अमरीका का गौरव बैठा हुआ था, तुमने उसे अशुद्ध अक्षर के समान छील दिया है । मेरे हृदय में स्त्री-जाति के लिए सम्मान था, तुमने उसे मिटा दिया है । मैं समझता था, स्त्री कुछ नहीं चाहती, केवल प्रेम चाहती है । तुमने अपने उदाहरण से सिद्ध कर दिया है, कि स्त्री सब कुछ चाहती है, केवल प्रेम ही नहीं चाहती । उसके हाथ में यह साधन है, जिससे वह पुरुषों को मूर्ख बनाती है और इसके बाद उन्हें भूल जाती है । यह विचार, और नहीं तो तुमने अमरीकन स्त्रियों के संबन्ध में तो सच्चा सिद्ध कर दिया है । भारतवर्ष के लिए तुम्हारा सन्देश अमरीकन मान-प्रतिष्ठा को लोगों की दृष्टि में बहुत घटा देगा ।'

मुझ पर इनमें से किसी बात का असर न हुआ । परन्तु अन्तिम शब्दों पर लज्जा से पानी-पानी हो गई । अमरीकन स्त्री सब कुछ सह सकती है, मगर यह नहीं सह सकती कि वह देशघातक है ; उसने देश की प्रतिष्ठा को नीचे गिरा दिया है । इन शब्दों से मेरे कलेजे पर छूरियाँ चल गईं । मुझको उस समय इतना क्रोध था कि अगर हाथ में पिस्तौल होती तो मदनलाल को वहीं ढेर कर देती । मदनलाल ने जब यह शब्द कहे तो उनके चेहरे पर क्रोध न था, परन्तु मैं यह शब्द सुनकर पागल हो गई और चिल्लाकर बोली—'मेरे मकान से निकल जाओ ।'

मदनलाल ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा । कदाचित् उनको यह ख़्याल न था कि मनुष्य इतना नीच भी हो सकता है । उस समय मेरे शरीर पर उन्हीं के रुपये से खरीदे हुए आभूषण थे । यदि वे चाहते तो उनकी ओर इशारा करके मेरा सिर झुका सकते थे । परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया और चुपचाप मेरे मकान से निकल गये ।

आठ-दस महीने बीत गये । मैं मदनलाल को भूल गई । मुझे इतना भी स्मरण नहीं रहा कि मैंने उनको कोई चोट पहुँचाई है । मेरे भारतीय पाठक आश्चर्य न करें, अमरीकन स्त्री की प्रकृति ही ऐसी है । वे पुरुषों का मन तोड़ती हैं और भूल जाती हैं । एक दिन बाजार में भीड़ देखकर मैं ठहर गई । वहाँ एक योगी बैठा था । उसके

वस्त्र गेरुए थे, सिर पर लम्बी-लम्बी जटाएँ। परन्तु मुखमंडल इस प्रकार चमकता था जिस प्रकार सन्तोष के राज्य में सात्विक आनन्द की मस्ती चमकती है। वह लोगों को उपदेश दे रहा था, और गीता का वह अध्याय सुना रहा था जिसमें मनुष्य को अपना कर्त्तव्य पूरा करने की शिक्षा दी गई है। उसके स्वर में माधुरी थी, उसकी बातों में मोहिनी शक्ति। श्रोता लोग चित्रवत् खड़े सुन रहे थे।

एकाएक उनके नेत्र मेरी ओर उठे। मेरा कलेजा धक् से हो गया। यह मदनलाल थे। मेरा सिर फटने लगा। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं उनका उपदेश सुनने के योग्य नहीं। मैं घबड़ाकर भीड़ से निकल आई और घर की ओर चली। उस समय मेरी आँखों में मदनलाल के गुण फिरने लगे। उनके प्रकाश में अपनी भूलें दिखाई दीं। दूसरे दिन मैंने खोज की, परन्तु उनका पता न लगा।

[५

उन्हीं दिनों वहाँ एक भारतीय रमणी के आने का शोर मचा, जिसे राग विद्या में निपुणता प्राप्त थी। समाचार-पत्रों ने उनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये। वह एक भारतीय साज वीणा बजाती थी। उसका संगीत हम लोग न समझ सकते थे, मगर हृदय और मस्तिष्क पर जादू की वर्षा होने लगती थी। उसके स्वर में एक विशेष प्रकार का माधुर्य्य था, जो हृदय को पकड़ लेता था। इस समय तक मैं यही समझे बैठी थी कि राग-विद्या में पश्चिम का आसन सर्वोपरि है, परन्तु इस रमणी के गायन ने इसका समर्थन न किया। अब मुझे पता लगा कि इस विषय में पश्चिम को पूर्व का सैकड़ों वर्ष शिष्य बनना पड़ेगा। मैं जब पहले-पहल उसका गाना सुनने गई तो गाना सुनने के भाव से नहीं, केवल जी बहलाने के विचार से चली गई थी। परन्तु वहाँ जाकर मेरी आँखें खुल गईं। एक भारतीय रमणी ऐसा अच्छा गा सकेगी, इसकी मुझे आशा न थी। उसका गाना सुनकर मैं मुग्ध हो गई। उसमें अभिनय न था। वह जब गाती थी तो आँखें न मटकाती थी, न किसी अंग को हिलाती थी। उसमें एक विशेष गौरव पाया जाता था, जो भारतीय स्त्रियों में ही पाया जाता है। मुझे अपना स्टेज फीका प्रतीत होने लगा।

दूसरे दिन मैं उसके निवासस्थान पर पहुँची। उसने भारतीय ढंग से मेरा स्वागत

किया और एक कुर्सी पर मुझे बैठाकर दूसरी पर आप बैठ गई। मेरे आश्चर्य की थाह न रही। इससे पहली रात उसे दूर से देखा था, अब पास आकर देखा तो चकित रह गई। इतनी सुन्दरी थी कि मेरी आँखें झपक गईं। उसके शरीर पर कोई आभूषण न था, कोई पदक न था, परन्तु फिर भी रूप आँखों में खुबा जाता था। मैंने गद्गद् होकर कहा—'आपने रात को खूब गाया।'

सावित्री ने अत्यन्त सरस और सरल अंग्रेजी में पूछा—'आप भी जलसे में थीं? तो आपको मेरा गाना पसन्द आया?'

'क्या कहना है, आप इस कला में निपुण हैं।'

'यह न कहिए। रागविद्या समुद्र है। इसका पार किसने पाया है?'

'आपने।'

सावित्री ने मुस्कुराकर जवाब दिया—'मैं तो अभी पहली ही सीढ़ी पर हूँ।

'यह आपका भारतीय विनय है। मेरी राय में तो आप इस सागर की मछली हैं।'

'क्योंकि मैं आपके यहाँ अतिथि हूँ।'

'नहीं, इसलिए कि आपमें वह चीज़ है, जो सोती हुई आत्माओं को जगा देती है।'

सावित्री चुप हो गई। शायद वह इससे नाराज़ हो गई थी। मैंने समझा, यह सब दिखावा है, परन्तु बाद की घटनाओं ने इसे झूठा सिद्ध कर दिया। मैं ज्यों-ज्यों उससे मिलती गई, उसकी प्रतिष्ठा मेरी आंखों में बढ़ती गई। यहाँ तक कि मेरा हृदय उसकी पूजा करने लगा। उसका हृदय श्रद्धा का खजाना था, मस्तिष्क आत्म-ज्ञान का सागर। रुपये का उसको ज़रा भी लोभ न था। Performance से जो आमदनी होती थी, उसमें से अधिकांश वह दान कर देती थी। उसके साथ जो सेवक थे, उनसे उसका बर्ताव सगे भाइयों का-सा था। उसकी प्रकृति ओछी न थी। जो कुछ कहना होता, थोड़े में कह देती। उसके इन गुणों पर मैं मुग्ध हो गई। वह मुझे इस झूठे संसार की रहनेवाली मालूम न होती थी। वह फूल के समान सुन्दर और ओस के बिन्दु के समान पवित्र देख पड़ती थी, संसार के विषयों से ऊँची, संसार के कारट-

से रहित। एक दिन मैंने उससे पूछा—'तुम्हारे यहाँ आने का कारण क्या है, यह तो मालूम न हुआ!'

सावित्री का चेहरा बदल गया। उसने कोई उत्तर न दिया।

मैंने पूछा—'रुपया कमाना?'

'भारतीय स्त्री रुपये को तुच्छ समझती है।'

'अपनी संगीत-कला की प्रसिद्धि?'

'इसमें भी उसको कोई प्रसन्नता नहीं।'

'दुनिया की सैर?'

'यह भी नहीं।'

मैं विस्मित-सी होकर बोली—'फिर आपका उद्देश्य क्या है?'

सावित्री की आँखों में आँसू आ गये। उसकी सुन्दर पलकों पर जल के बिन्दु लहराने लगे। साफ़ मालूम होता था कि मेरे इस प्रश्न से उसके हृदय का कोई पुराना घाव हरा हो गया है। मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। सावित्री बोली—'बहन! मैं एक विशेष प्रयोजन से यहाँ आई हूँ। कभी अवसर मिला तो तुमसे अपनी राम-कहानी कहूँगी।'

मैंने उत्तर दिया—'अभी न कह दो। मेरा हृदय इसके लिए अत्यन्त व्याकुल हो रहा है।'

सावित्री ऐसी स्त्री न थी जो सहज ही में अपनी आप-बीती किसी के सामने रखने को तैयार हो जाती। मगर मेरे मेल-मिलाप ने उसे विवश कर दिया। ठंडी साँस भरकर बोली—'अभी सुन लो'

मैं दत्तचित्त हो गई। सावित्री ने अपनी आत्म-कथा आरम्भ की—

[६]

'बहन! मैं पंजाब प्रान्त के मशहूर शहर अमृतसर की रहनेवाली हूँ। यह सिक्खों का एक ऐतिहासिक शहर है। मेरे माता-पिता के पास जागीरें नहीं थीं, परन्तु उनकी अवस्था ऐसी अवश्य थी कि लोग उनकी अमीरों में गिनती करते थे। मुझे उन्होंने बड़े लाड़-प्यार से पाला और जब मैं जवान हुई, तो ब्याह की तैयारियाँ

शुरू कर दीं। मगर इससे मुझे प्रसन्नता न हुई। कारण यह कि मेरे हृदय-पट पर एक मूर्ति अंकित हो चुकी थी और मैंने निश्चय कर लिया था कि ब्याह करूँगी, तो उन्हीं से करूँगी, नहीं तो सारी आयु कुँवारी रहकर गुजार दूँगी। वे इतने सुन्दर, इतने बुद्धिमान्, इतने सज्जन थे कि मैं उनकी पूजा करती थी। जहाँ तक मैं समझती हूँ, ऐसा पुरुष सारे नगर में न था। वे उसी मुहल्ले के रहनेवाले थे, जिसमें मैं रहती थी। बाल्यावस्था में हम दोनों एक-साथ खेला करते थे। हमने कभी मुख से एक-दूसरे पर प्रेम प्रकट नहीं किया, न कभी ब्याह की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु दोनों हृदयों में यह प्रेम इस प्रकार रच गया था जैसे दूध में मिश्री। हमको एक दूसरे पर पूर्ण विश्वास था और निश्चय था, कि कोई एक दूसरे को धोखा नहीं दे सकता।

'जब मेरे ब्याह की बात-चीत चली, तो मुझे चिन्ता हुई। मैंने एक सहेली की मार्फत अपनी मा को सब कुछ कहला भेजा। इस बात का सुनना था कि मेरी मा आग-बबूला हो गई और मुझे धिक्कार-फटकार करने लगी। मैंने उसे स्पष्ट शब्दों में सारी बात कह दी। भारतीय कन्या के लिए यह बात असाधारण है। वहाँ इसे निर्लज्जता समझा जाता है। तो भी मैंने यहाँ तक जाना स्वीकार किया। परन्तु इसका कुछ फल न हुआ। मेरे माता-पिता उनके साथ मेरा ब्याह करने पर राजी न हुए, क्योंकि वे कोई इतने धनवान् न थे। कदाचित् भारतवर्ष ही एक ऐसा अभागा देश है जहाँ कन्याओं के लिए अपने ब्याह में भी राय देना एक भारी अपराध है। मेरी आँखों में संसार अन्धकारमय हो गया। अन्त में जब सब ओर से निराशा दिखाई दी तो एक दिन हम दोनों घर से निकल भागे।

बहन! भारतवर्ष में यह प्रेम अत्यन्त घृणित समझा जाता है। वहाँ इस प्रकार की बात को लोग सहन नहीं कर सकते। जो कन्या घर से निकल आये, उसके लिए भारतवर्ष में कोई आदर नहीं। सैकड़ों माता-पिता इस लज्जा से बचने के लिए विष खा लेते हैं। सहस्रों नदियों में कूद पड़ते हैं। सहस्रों पेट में छुरियाँ भोंक लेते हैं। मैं यह सब कुछ जानती थी, परन्तु प्रेम ने मुझे बावली बना दिया था। मैं यह समझ नहीं सकती थी कि मैं अपना दिल और दिमाग एक आदमी को देकर अपना शरीर दूसरे आदमी को किस प्रकार सौंप सकूँगी? इसका उपाय यह हो सकता था कि मैं

अपने-आपको बलिदान कर दूँ। मगर जब उनका ध्यान आता था, तो दिल काँप उठता था। इस कारण मैंने भागना स्वीकार किया, परन्तु कई महीनों तक चित्त स्थिर न हुआ। वे स्वयं कई महनों सोते-सोते चौंक उठा करते थे। हमने वेदमन्त्रों के साथ अग्नि के सम्मुख शास्त्रोक्त विधि से विवाह कर लिया और हिमालय की तराई में एक कुटिया बनाकर रहने लगे।

'हमारी आवश्यकताएँ साधारण थीं, उस झोपड़ी में रहते दो वर्ष निकल गये। वे दिन मेरे जीवन के सुनहरे दिन थे। हम फल-फूल खाते थे, प्राकृतिक दृश्य देखते थे, और प्रेम के पाँसे खेलते थे। हमारे जीवन के यह वर्ष भोग-विलास के दिन थे, जिनको स्मरण करके अब भी हृदय रो उठता है। बहन! तुम्हारा यह नगर बहुत रमणीय है, परन्तु हिमालय की तराई की उस कुटिया से इसकी कोई तुलना नहीं, जो सन्तोष की मूर्त्ति बनी हुई अपने अतीत काल के ऐश्वर्य और विभूति का स्मरण कर रही है। वहाँ दिन को धूप खेलती थी, रात को चाँदनी। पर्वत की चोटियाँ दूर तक इस प्रकार एक दूसरों के बाद ऊँची होती गई हैं, मानो उनकी शृंखला कभी समाप्त ही नहीं होती। वह दृश्य स्मरण होते ही मैं उड़कर वहाँ पहुँच जाना चाहती हूँ। वहाँ हमारा जीवन एक ऐसा वसन्त था, जिसने कभी शिशिर के झोंके न देखे थे।

'बहन! वे मुझ पर तन-मन से निछावर थे। हम दिन-रात प्रेम की प्यासी आँखों से एक दूसरे को देखते थे, पर कभी जी न भरता था। हमारा प्रेम खुले आकाश के समान विशाल था, जिसका कोई अन्त दिखाई नहीं देता; पत्थर के समान दृढ़ था, जिसमें कोई छिद्र नहीं होता। मैं प्रायः सोचा करती थी कि अगर मैं भाग न निकलती, तो यह प्रेम का अमृत मुझे कैसे प्राप्त होता? हमारी कुटिया के निकट ही थोड़ी दूर पर कुछ संन्यासी रहते थे, जो संसार के संबन्धों को तोड़कर, परलोक सुधारने की चिन्ता में भक्ति करते थे। वे हमें देखकर इस प्रकार प्रसन्न होते थे, जिस प्रकार पिता पुत्रों को देखकर। हम उनके आशीर्वाद की छाया-तले सुख से जीवन के दिन गुज़ार रहे थे।

'दो साल गुज़र गये। हमारी कुटिया की छत और दीवारें जीर्ण हो गईं, जिस तरह मनुष्य की देह वृद्धावस्था में ढह जाती है। एक दिन उन्होंने भूमि खोदनी

आरंभ की, जिससे छत और दीवारें सँवारी जायँ। यह काम उन्होंने पहले कभी न किया था, हाथों में छाले पड़ गये। परन्तु इसके सिवा और कोई उपाय न था। मैं उनकी सहायता करती थी, मगर मेरे बनाये कुछ बनता न था। पसीना-पसीना होकर वे भूमि को खोद रहे थे, कि सहसा उछल पड़े। मैं दौड़ती हुई गई, और आनन्द से पागल होकर झूमने लगी। वहाँ एक देग थी जो सोने की मोहरों से मुँह तक भरी हुई थी। उन्होंने सावधानी से चारों ओर देखा, और मुझसे कहा 'चुप!'

[७]

'बहन! अगर यह घटना नगर में होती, तो शोर मच जाता, और लोगों के ठट्ट इकट्ठे हो जाते। मगर वहाँ हमारे सिवा दूसरा कौन था? हमने देग को खींचकर बाहर निकाला, और सोचने लगे कि इस रुपये से क्या किया जाये। अंत में यह निश्चय हुआ कि इसे परोपकार के काम में लगाया जाये। हम सावधानी से नीचे मैदान में आये, और इमारतें बनवानी आरंभ कर दीं। एक वर्ष के अन्दर उजाड़ भूमि गुलज़ार बन गई। कहीं अनाथालय बन गये, कहीं अस्पताल, कहीं धर्मशाला, कहीं तालाब। हमारा महल उस नगर के बीच में था, और इतना सुन्दर कि देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता था। हम घर से भिखारी बनकर निकले थे, यहाँ राज भोगने लगे। मुझे कोई विशेष कार्य न था, मगर वे दिन-रात काम में लीन रहते थे। कहीं अनाथालय और गौशाला का हिसाब आता था, कहीं लोगों के झगड़े। उनको कई बार तो भोजन करने का भी अवसर नहीं मिलता था। मेरे आनन्द का ठिकाना न था। मुझे इन पवित्र दृश्यों से आध्यात्मिक सुख मिलता था, यद्यपि इस आध्यात्मिक आनन्द ने मुझसे मेरे पति का अधिकांश समय दूसरों के लिए छीन लिया था।

एक दिन वे बहुत रात गये महल में आये। द्वारपाल और दास-दासियाँ सब सो गये थे। मैंने दौड़कर प्रेम और क्रोध की मिली-जुली आवाज़ में पूछा, 'इतनी देर क्यों कर दी?'

उन्होंने मुझे प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर उत्तर दिया, 'कन्याओं के लिए पाठशाला खोलने का विचार है। उसके लिए स्कीम बना रहे थे।'

'कल बना लेते!'

'नहीं, मैं इस काम को जल्दी समाप्त करना चाहता हूँ ;'

'इतनी जल्दी काहे की है ?'

उन्होंने फिर उसी दृष्टि से मेरी ओर देखा और कहा—'तुम्हें यह भी मालूम है, देश में क्या हो रहा है ?'

यह १९०७ ई० की बात है।

मैंने सादगी से उत्तर दिया, 'क्या हो रहा है ? मैं नहीं जानती, तुम्हीं जानो।'

'देश-भक्ति का समय है। लीडर कैद हो रहे हैं।'

'जानती हूँ। जो समाचार-पत्र आपने मँगवा दिये हैं, उसमें बड़े-बड़े भयानक समाचार होते हैं।'

'तो तुम्हारा भी तो कुछ कर्तव्य है।'

मैंने उत्तर में पूछा—'मेरा क्या कर्तव्य है ?'

'देश के लिए कुछ बलिदान करो। कहो, करोगी ?'

'करूँगी।'

'क्या करोगी ?'

'अपना सारा रुपया जातीय कार्यों के लिए दे दो।'

'वह तुम्हारा था ही कब ? क्या पता किसका दबा हुआ था, कोई अपनी वस्तु दो।'

'मेरे अपने पास तो कुछ भी नहीं है।'

'......मुझे दे दो।'

मैं चौंक पड़ी, और पीछे हटकर बोली—'यह क्या कहते हो ?'

'देश को रुपये की आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं। मगर रुपये से भी बड़ी आवश्यकता देश को सच्चे मनुष्यों की है। एक आदमी लाखों रुपये पैदा कर सकता है। मगर लाखों रुपये एक आदमी नहीं बना सकते।'

मेरे नेत्रों में आँसू आ गये। मैंने रोते हुए कहा—'मेरा हृदय कैसे मानेगा ?'

उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया, और मिठाई से अधिक मीठे व

मक्खन से अधिक नर्म शब्दों में बोले—'मैं तुम्हें सदा के लिए थोड़े ही कहता हूँ। केवल थोड़े वर्षों के लिए आज्ञा दो। मैं विलायत जाकर कानून पढ़ना चाहता हूँ।'

'क्या इसके बिना देश-सेवा नहीं हो सकती?'

'हो सकती है, मगर देश को इस समय कानून जाननेवालों की अधिक आवश्यकता है। ज़रा विचार करके देखो, देश-सेवा के क्षेत्र में जितने लोग निकले हुए हैं, सब-के-सब कानून जाननेवाले हैं।'

मैंने उत्तर दिया—'फिर मुझे भी साथ ले चलो।'

'पगली कहीं की। कभी ऐसा भी हो सकता है!'

'हो क्यों नहीं सकता, मैं तुम्हें वहाँ पढ़ने से रोक थोड़े ही लूँगी!'

इस पर उन्होंने लम्बी-चौड़ी वक्तृता दी और देश की करुणावस्था का मेरे सामने फोटो खींच दिया। मगर मैं सहमत न हुई। मेरे हृदय में देश का दुःख न था, यह बात न थी। अगर मुझे कोई कहता, कि तुम्हारे सिर देने से भारत का कल्याण हो सकता है, तो मैं निस्सन्देह अपना सिर अपने हाथ से काटकर फेंक देती। मगर उनका वियोग मुझसे सहा न जाता था। मैं अपनी बात पर बराबर जमी रही, मगर उन्होंने भी वह हठ पकड़ी कि चुप न हुए, यहाँ तक कि मुझे मानना पड़ा। जल-बिन्दुओं के निरन्तर प्रपात ने पत्थर में छेद कर दिया। अब जब सोचती हूँ तो आश्चर्य होता है कि उस समय कैसे मान गई थी।

[८]

'बहन! जब वे चले गये, तो मैं बावली-सी हो गई। मेरे लिए इस जगत् का प्रत्येक पदार्थ बदल गया था। सूरज अब भी चढ़ता था, चन्द्रमा की किरणें मेरे महल पर अब भी खेलती थीं, आकाश पर घटाएँ अब भी लहराती थीं। परन्तु उनमें वह सुन्दरता, वह आकर्षण, वह मोहनी न थी। मैं पछताने लगी कि उस समय क्यों मान लिया। बम्बई से पत्र आया, तुम्हारी स्मृति साथ लिये जा रहा हूँ। यह पढ़कर मेरा हृदय रोने लगा। विलायत से पत्र आया, धीरज रखना, मैं जल्दी आ जाऊँगा; मगर मुझे धीरज न था। दिन रोने में कट जाता, रात जागने में। मेरा स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। घबराकर लिखा, मुझे वहीं बुला लो, मेरा मन सदा

उदास रहता है। उत्तर आया, कुछ समय और हृदय पर पत्थर रख लो। इन पत्रों में सहानुभूति, वियोग, और प्रेम के भाव छिपे रहते थे, उनका आना-जाना जीवन का आधार बन गया। वे इतने सुन्दर हैं कि स्त्रियाँ उनको देखकर मुग्ध हो जाती हैं। ऐसे पतियों की स्त्रियों को संदेह करने के अवसर प्रायः मिलते रहते हैं। मगर मुझे उन पर कभी सदेह नहीं हुआ, क्योंकि मैं जानती थी कि वे इतने भलेमानस और सज्जन पुरुष हैं कि किसी स्त्री की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वे इसे भी मेरे साथ विश्वासघात समझते हैं। जब वे जाने लगे तो मेरी एक सखी ने कहा था कि उन पर कोई मेम जादू न कर दे। मैंने क्रोध से उसका मुँह दबा दिया था। मेरा विचार था कि संसार में सब कुछ हो सकता है, परन्तु यह नहीं हो सकता। मुझे क्या पता था कि मेरे भाग्य भी फूट जायँगे।

'दो साल तक उनके पत्र बराबर आते रहे, इसके बाद उनका आना बन्द हो गया। मैंने रो-रोकर लिखा, मुझे बिन आई मौत न मारो, तुम्हारे पत्र मेरे लिए रामबाण हैं, मगर कोई उत्तर न आया। मैं घबरा गई, मन में सैकड़ों प्रकार की आशंकाएँ उठने लगीं। तार दिये, आदमी भेजे, पर कोई पता न लगा। इतना पता मिला कि जहाँ पढ़ते थे, अब वहाँ नहीं हैं। मगर कहाँ हैं? क्या कर रहे हैं? इसका कोई पता न लगा। अंत में मैंने अपने दीवान को इंगलैंड भेजा, कि जाकर पूरा-पूरा हाल लिखे। यह दीवान अपने काम में अत्यन्त चतुर था। मुझे इस पर पूरा-पूरा भरोसा था। उसने जाकर कई महीने खोज करने के बाद लिखा कि वे एक अमरीकन कंपनी की एक्ट्रेस के साथ अमरीका चले गये हैं। मुझे साँप ने काट खाया। कई दिन तक मूर्छा आती रही। मेरे पास रुपये-पैसे की कमी न थी, दास-दासियों की कमी न थी, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न था, मगर हृदय सदा रोता रहता था। मैंने अपने दीवान को लिखा, अमरीका चले जाओ, और उनकी खोज करो। दीवान अमरीका चला गया और कई मास तक उनको ढूँढ़ता रहा। अंत में उसने मुझे सूचना दी, कि उस स्त्री के विश्वासघात से उनका मन खट्टा हो गया है। उसने सैकड़ों बार प्रार्थना की, सैकड़ों प्रकार से समझाया, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। बराबर अपने हठ पर अड़े रहे, और यही कहते रहे कि मैंने वह पाप किया है कि

अब अपनी स्त्री को मुँह नहीं दिखा सकता। अंत में मैंने अपने हितचिन्तकों की सम्मति से यह निश्चय किया कि स्वयं अमरीका चलूँ। जब हम हिमालय की कुटिया में रहते थे उस समय मैं गाने का अभ्यास किया करती थी, जिसे सुनकर वे अपने आपको भूल जाया करते थे। मैंने अमरीका में आकर इस कला से पति की खोज का निश्चय किया कि कदाचित् इसी उपाय से उनका कुछ पता लग जाय। मगर मैं अंगरेजी न जानती थी। मैं रामायण, महाभारत पढ़नेवाली, भजन गानेवाली साधारण हिन्दू स्त्री, मेरा हृदय डोल गया। फिर भी अंगरेजी पढ़ना आरंभ कर दिया। दिल में उत्कण्ठा थी, दिमाग में लगन। कुछ ही महीनों में बोलने लगी और मुझे इसमें अच्छा अभ्यास हो गया। कुछ हिचकिचाहट थी, वह जहाज़ में दूर हो गई।'

'बहन! यहाँ आने का मेरा और कोई उद्देश्य नहीं। केवल उनकी खोज करना है। परमात्मा जाने, सफलता होती है या नहीं।'

यह कहते-कहते सावित्री की मोटी-मोटी आँखों से आँसू बहने लगे।

[९]

मैं समझ गई कि उसके सुन्दर मुख पर उदासीनता का रंग क्यों लहराता रहता है। भारतीय रमणी के लिए उसका पति ही सब कुछ है, यह मैं कहानियों में सुनती-थी, पुस्तकों में पढ़ती थी, परन्तु विश्वास न था। आज प्रत्यक्ष देख लिया। उसे उदास देख कर मैं कुढ़ती थी, परन्तु यह पता न था कि उसके दुःख का कारण मैं ही निकलूँगी, मेरे हृदय पर किसी ने जलते हुए अंगारे रख दिये। मैं रोती हुई उठी और उसके पाँव से लिपट गई। शिकार और शिकारी दोनों रोने लगे। मैंने रोते-रोते अपने अपराध को स्वीकार किया। सावित्री की आँखों से अग्नि के अंगारे निकलने लगे। उसने क्रोध में आकर मुझे धक्का दिया और कहा, फिर दोबारा मेरे सामने न आना। यह अपमान मेरे लिए असह्य था। मगर सावित्री की प्रेम-कथा और सद्व्यवहार ने मुझ पर जादू कर दिया था। मुझे उस पर नहीं, अपने आप पर क्रोध आया। सावित्री की महान् आत्मा ने अमरीकन प्रकृति-पूजा की भयानक मूर्त्ति मेरे सम्मुख रख दी। मैंने निश्चय कर लिया कि मदनलाल का पता ढूँढ़ निकालूँगी, और अपने पाप का प्रायश्चित्त करूँगी।

कई महीने बीत गये। सावित्री कई स्थानों में घूम कर फिर न्यूयार्क आ गई।

मगर उसके पति का पता न लगा। मैंने भी अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। यहाँ तक कि मैं इस ओर से निराश हो गई।

रात का समय था। मैं सुख से सोई हुई थी। एकाएक कोलाहल से आँखें खुल गईं। देखा, मकान में आग लग रही है। मैं अन्धाधुन्ध नीचे उतर आई। वहाँ सैकड़ों आदमियों की भीड़ थी। पानी का इंजन अग्नि बुझाने के लिए नदियाँ बहा रहा था। मगर आग ठण्डी न होती थी। वह जल के प्रभाव से निकल-निकलकर ऊँची उठती थी। मेरा कलेजा धड़कने लगा।

एकाएक ख़्याल आया, मेरा पति ऊपर है। वह रात के समय एक सख़्त मदिरा पिया करता था, जिसके मद से सारी रात उस पर बेसुधि-सी छाई रहती थी। इस समय भी उसके मद से बेसुध पड़ा होगा। मैंने चिल्लाकर कहा—मेरा पति।

अगर यह घटना पहले होती, तो मुझे पति की पर्वा न होती। मगर सावित्री के प्रेम ने मेरे विचार को बदल दिया था। अब मैं समझ गई थी, कि पति-पत्नी का सम्बन्ध शारीरिक नहीं, प्रत्युत आत्मिक होता है। मैं अब उसे आत्मा की पूर्ण शक्ति से चाहने लगी थी। वह आयु में मुझ से बहुत बड़ा था, और मैंने विवाह करते समय केवल उसके रुपये का ध्यान किया था। परन्तु सावित्री ने मुझे सिखा दिया कि पति का प्रेम क्या वस्तु होता है। अब मैं उसके रुपये को नहीं, परन्तु उसी को चाहती थी। इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि उसे मृत्यु के मुख में देखकर मेरे हृदय पर क्या बीती होगी। मैंने भय से चिल्लाकर कहा—'मेरा पति!' लोग अवाक् रह गये। उनको यह ख़्याल न था कि वह अभी तक ऊपर रह सकता है। वहाँ इस समय भयंकर मौत गरज रही थी। अग्नि महल के कोने-कोने में जा चुकी थी, और जहाँ न गई थी वहाँ जा रही थी, और उसकी मृत्यु को क्षण-क्षण में निश्चित बना रही थी। यह दृश्य हजारों आदमी खड़े देख रहे थे, मगर किसी के पाँव न हिलते थे। मैंने फिर चिल्लाकर कहा—'मेरा पति! जो उसे बचायेगा मैं उसे दस हजार डालर दूँगी।'

जो काम सहानुभूति न कर सकती थी, वह लोभ ने किया। बीसों आदमी आगे बढ़े, मगर पहली ही छत से लौट आये। भयानक अग्नि की ज्वाला ने रास्ता रोक रखा

था। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। क्या वह नहीं बच सकता ? मैंने मन में परमेश्वर के आगे हाथ बाँधे और जलते हुए महल की ओर आँख उठाई। आग अपने पूरे जोबन पर थी। मैंने फिर चिल्लाकर कहा—'मेरा पति !'

भीड़ में हलचल-सी हुई। एक आदमी आगे बढ़ा और अंधाधुंध सीढ़ियों पर चढ़ गया। रास्ते में आग पहरा दे रही थी, परंतु वह उसे चीरता हुआ निकल गया। अग्नि ने अपनी लपलपाती हुई जिह्वाओं से उसका पीछा किया, पर वह पहुँच से बाहर जा चुका था। लोगों ने तालियाँ बजाकर उसके साहस की प्रशंसा की। मेरा कलेजा होठों तक आ गया।

इतने में देखा, वह आदमी ऊपर की छत पर जा पहुँचा और आँखों से ओझल हो गया। लोगों में फिर हर्ष की ध्वनि उठी। अब वह उस कमरे को ढूँढ़ रहा था, मगर बहुत समय तक उसे पता न लगा। वह इधर-उधर फिर रहा था, सहस्रों आँखें उस ओर भय और सहानुभूति के मिले-जुले भाव से देख रही थीं और हर एक पल जो बीत रहा था, उस वीर की मृत्यु को निकट ला रहा था।

इतने में महल की पिछली ओर से एक आदमी आता दिखाई दिया। मेरे आनन्द की थाह न थी, यह मेरा पति था। मैं दौड़कर उससे चिपट गई, और बोली—'तुम कहाँ थे ?'

'पिछवाड़े में।'

मैंने आश्चर्य से पूछा—'कब उतरे ?'

'बहुत देर हुई।'

मैंने ऊपर आँख उठाई, वह आदमी इधर-उधर घूम रहा था। मैंने चिल्लाकर कहा—'नीचे उतर आओ, ऊपर कोई नहीं है। वह बच गया है।'

हज़ारों आदमियों ने मेरे शब्दों को दोहराया—'वह बच गया है, तुम नीचे उतर आओ।'

वह तेजी से नीचे उतरने लगा। लेकिन घबराहट में किसी वस्तु से ठोकर खाकर गिर पड़ा। हज़ारों आँखों ने यह दृश्य देखा, और सहस्रों हृदयों ने ठंडी साँसें भरीं। क्या वह बचेगा ? क्या वह बच सकेगा ?

प्रत्यक्ष में उसकी कोई आशा न थी। आग बढ़ रही थी, मगर वह बेसुध पड़ा था, और समय हाथ से जा रहा था। मेरे स्वामी के मुख पर पसीने की बूँदें टपकने लगीं। हमारे नौकरों ने दो कुर्सियाँ बिछा दीं। हम बैठकर अधीरता से इस सहानुभूति का भयानक परिणाम देखने लगे। वह अभी तक चित लेटा हुआ था। लोग चुपचाप खड़े थ। संसार के सबसे बड़े सभ्य देश में एक सहानुभूति रखनेवाला जीव प्रचण्ड अग्नि में लेटा हुआ था, पर किसी में आगे बढ़ने का साहस न था।

[१०]

अकस्मात् एक वीर पीछे से भीड़ को चीरता हुआ आगे बढ़ा, और तेज़ी से सीढ़ी पर चढ़ गया। उसकी टाँगों में बिजली की-सी शक्ति थी, और छाती में फौलाद का हृदय। लोगों के रोकते-रोकते वह आगे बढ़ गया, और मृत्यु के मुँह में घुसकर धुँएँ के बादल में लोप हो गया। लोगों की साँस रुक गई। एकाएक हर्ष की ध्वनि उठी, वह फिर दिखाई दे रहा था और जलते हुए तख्तों के ऊपर से गुजर रहा था। वह समय बड़ा भयानक था। अगर कोई तख्ता जलकर टूट जाता तो उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती। मगर वह बड़ी सावधानी से बढ़ रहा था, और वह पहला वीर—वह अभी तक अचेत पड़ा था।

जलते हुए तख्तों के ऊपर से गुज़रकर वह आगे बढ़ा। लोगों के आशीर्वाद उसके साथ थे। सहसा प्रकाश उसके मुख पर पड़ा। मेरा कलेजा हिल गया। यह मदनलाल थे, जो एक बेचारे निस्सहाय आदमी को बचाने के लिए अपने प्राणों पर खेल रहे थे। मैंने व्याकुल होकर कहा—'परमेश्वर करे वह बच जाये।'

मेरे पति ने पूछा—'क्या तुम उसे जानती हो?'

'बहुत अच्छी तरह।'

'कौन है?'

'मदनलाल।'

'मेरा पति कुर्सी से उछल पड़ा—'क्या वही इंडियन?'

'हाँ, वही इंडियन!'

'तुम्हारी सहेली—उसी विचित्र भारतीय गानेवाली स्त्री—का पति! तुम्हारा अभिप्राय उसी से है।'

'हाँ उसी से।'

'बड़ा सूरमा है। उसने अमरीकनों की नाक काट डाली है?'

'वह रह नहीं सकता था। सहानुभूति की तो वह मूर्ति है।'

'खुदावन्द उसकी रक्षा करे।'

मैंने जोश से उत्तर दिया—'वह करेगा, मेरी सहेली सावित्री की मेहनत अकारथ नहीं जा सकती।'

'परमेश्वर दया करे।'

मैंने ऊपर आँख उठाई, तो आनन्द से उछल पड़ी। मदनलाल झुककर उस आदमी को उठा रहे थे। यह काम कुछ ही क्षणों में पूरा हो गया और वह उस मूर्छित शरीर को भुजाओं में उठाये हुए धुएँ के बादलों, अग्नि की कराल काली और लाल शिखाओं में घुस गये। इस समय चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। लोगों की साँस तक रुकी हुई थी। इतने में वे निचली छत पर पहुँच गये। लोगों की हर्षध्वनि से आकाश गूँज उठा। मदनलाल तेजी से नीचे उतरने लगे। परन्तु रास्ते में मृत्यु बैठी थी। अग्नि की लपलपाती हुई जिह्वाएँ दीवारों और सीढ़ियों को सर्पों की नाईं चाट-चाटकर उन दोनों का रास्ता बन्द कर रही थीं; परन्तु मदनलाल भयभीत नहीं हुए। उन्होंने लबादे को नल से भिगोकर अपने शरीर से कसकर बाँध लिया, सिर को लपेटा और अग्नि में कूद पड़े। लोगों ने चिल्लाकर कहा—'परमात्मा दया कर। इस वीर को अपनी कृपा से बचा।' और अभी यह शब्द लोगों के मुँह ही में थे कि वह खतरे से बाहर थे। मैं पागलों की तरह आगे बढ़ी, और आनन्द से विह्वल हो गई। उनकी गोद में सावित्री थी। मैं अपने आपे में न रही और अचेत होकर गिर पड़ी।

[११]

जब मुझे होश आया तो मैंने अपने आपको एक होटल में पाया। मुझसे कुछ दूर सावित्री आराम कुर्सी पर लेटी थी और मदनलाल के साथ धीरे-धीरे बातें कर

रही थी। इस समय उसके मुखमण्डल पर आनन्द की चमक थी। मैं उठकर आगे बढ़ी और बोली—'मैं आप दोनों से क्षमा माँगती हूँ।'

सावित्री ने मुझे खींचकर गले से लगा लिया और मुस्कराकर बोली—बहन! अब इस बात को जाने दो।

'मगर मुझे चैन नहीं आयेगा, जब तक तुम्हारे होठों से न सुन लूँगी, कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया है।'

सावित्री ने उत्तर दिया—'मेरा हृदय तुम्हारी ओर से साफ़ है।'

मेरे हृदय पर से किसी ने बोझ हटा दिया, मगर फिर भी मैंने आँखें ऊपर न उठाईं और कहा—'एक उपकार और करो तो बड़ी कृपा हो।'

सावित्री ने मातृ-वात्सल्य के साथ अपना हाथ मेरे कन्धे पर रखा और पूछा—'क्या?'

'इनसे भी कहो, मुझे क्षमा कर दें। मैंने इनको बहुत कष्ट दिया है।'

मदनलाल इस समय तक गूँगे के समान चुप थे, मेरी प्रार्थना सुनकर भी वे कुछ न बोले, और चुपचाप अपनी घड़ी की चेन के साथ खेलते रहे। सावित्री ने कहा—'सुनते हो, बहन मेरीन क्या कह रही है?'

'हाँ।'

'फिर क्षमा कर दो न।'

'मगर इनका कोई दोष भी हो!'

मैंने बात काटकर कहा—'यह बात मेरे सम्बन्ध में है और मैं इसे स्वयं स्वीकार करती हूँ। मैं तुम्हारी अपराधिन हूँ।'

मदनलाल फिर भी चुप थे।

सावित्री ने कहा—'चलो, अब कह दो। बेचारी कितनी परेशान हो रही है।'

मदनलाल बोले—'जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसमें मेरा ही अपराध था। यह कुँवारी थी, अमरीका की सभ्यता में पली थी, नाटक कम्पनी में काम करती थी। इससे ऐसी बात हो जाना कोई आश्चर्य नहीं। आश्चय तो यह है, कि मेरी आँखों पर कैसे पट्टी बँध गई, जो मैं अपने देश, अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी सभ्यता,

अपनी रीति-नीति और अपनी पत्नी के साथ धोखा करने को तैयार हो गया। मुझे जब-जब ही यह स्मरण होता है, तो कलेजे में भाले चुभते हैं और आँख ऊपर नहीं उठती। इसी कारण मैंने प्रायश्चित्त करने के लिए साधु बनना स्वीकार किया था। इसी लिए लाखों रुपये का मालिक होते हुए भी मैंने एक आफ़िस में नौकरी करनी शुरू कर दिया था। मैं जानता था, तुम पर क्या बीत रही होगी। मगर तुम यहाँ तक पहुँच जाओगी, यह न समझता था। इस समय तक मुझे तुम्हारे प्रेम और श्रद्धा पर अभिमान था, अब तुम्हारी योग्यता और साहस पर भी मान हो गया। मगर मेरी आँखों में जो लज्जा है, वह पता नहीं कभी दूर होगी या नहीं। बाकी रही मेरीन की बात। उसके विषय में मैं सच्चे हृदय से कह रहा हूँ, कि मेरे मन में किसी प्रकार का रोष नहीं। मैं उसे क्षमा करता हूँ।'

सावित्री की आँखें सजल हो गईं। उसने रुद्ध कण्ठ से कहा—'यह न कहो। तुम्हें लजाने की कोई आवश्यकता नहीं। परमात्मा ने मेरा लुटा हुआ सुख लौटा दिया है, मेरे लिए यही सब कुछ है।'

मगर मदनलाल इस पर सन्तुष्ट न हुए। दृढ़ता से बोले—

'नहीं—तुम्हें भी मुझे क्षमा करना होगा, इसके बिना मेरे चित्त की चंचलता दूर न होगी।'

सावित्री ने उत्तर दिया—'यह आप क्या कह रहे हैं ? भारतीय स्त्रियों के मुख से कभी ऐसे शब्द नहीं निकल सकते।'

'परन्तु तुम्हें ऐसा कहना होगा।'

'मैं यह तो कह सकती हूँ कि मेरे मन में कोई मैल नहीं है, मगर मैं यह नहीं कह सकती, कि मैंने क्षमा किया। मैं अपने आपको इसके योग्य नहीं समझती।'

'मगर तुम्हें कहना होगा।'

सावित्री का मुँह लज्जा से तमतमाने लगा। वह भागकर बगल के कमरे में ज छिपी। इस समय मेरा मन आनन्द से विह्वल हो गया था। वही सावित्री जिसकी कीर्ति के डंके अमरीका के एक कोने से दूसरे कोने तक बज रहे थे, इस समय पति

के सम्मुख एक बच्चे के समान लजा रही थी। मेरे हृदय में भारत के गौरव ने सिर ऊँचा किया।

[१२]

थोड़े दिन बाद वे भारत को लौट गये, तो मेरा चित्त उदास हो गया, जिस प्रकार बालक माता से बिछुड़कर उदास हो जाता है। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो मेरी कोई वस्तु खो गई है। मेरा पति सदा मेरा लाड़-चाव करने में लगा रहता था, पर मेरा हृदयकमल हमेशा मुर्झाया रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा पति भी रोगी रहने लगा और छः मास बाद मर गया।

इस मृत्यु ने मेरे मन को चूर-चूर कर दिया और मेरा सारा सुख नष्ट हो गया। सावित्री ने इस पर एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा। वह पत्र क्या था? संसार की असारता पर एक मनोहर उपदेश था। मेरे हृदय को खोई हुई शान्ति मिल गई। मैं उसे संभालकर रखने लगी, मानो कोई बहुमूल्य और दुष्प्राप्य हीरा हो। अब भी जब मन में व्याकुलता होने लगती है, तो यह पत्र रामबाण का काम कर जाता है।

अन्त में मुझसे न रहा गया। सावित्री और मदनलाल की लगन ने मुझे भारतवर्ष में खींच लिया। मगर यहाँ आकर मेरा मन बैठ गया। उन दोनों का कहीं पता न था। मैं हिमालय के पर्वतों पर फिरी। मैदानों में घूमी। तीर्थों पर गई। मगर उनका कोई पता नहीं मिला। मेरा विचार था कि अपना समग्र धन उनके अर्पण कर दूँ, जिसे वे परोपकार के कामों में लगा दें। इस विचार से समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिये, परन्तु फिर भी कोई परिणाम न निकला।

मैं हिमालय की तराइयों में घूमने लगी। दूसरे देश की स्त्री होने पर भी मैं जहाँ-जहाँ से गुजरी, लोगों ने उदारता से मेरा आदर सत्कार किया। उनके आदर-सत्कार को देखकर—जिसमें सदा प्रेम, सरलता और आदर के भाव मिले हुए होते हैं—मेरे हृदय में प्रश्न उठता है कि क्या यह भारत वही भारत है, जिसके विषय में बाहर सहस्रों प्रकार की झूठी, निर्मूल और अप्रासंगिक बातें प्रसिद्ध हैं! अगर मेरे बस में होता तो भारत की आत्मपरायणता पर अमरीका और फ्रांस की ऐश्वर्य्यमय और दिखावे की सभ्यता को निछावर कर देती।

मैंने अपना रुपया बैंक में जमा करवा दिया और उसे लिख दिया कि मेरी मृत्यु के बाद उसे भारतीय जाति-सेवकों के हाथ दे दिया जाये और स्वयं हिमालय की उपत्यका में घूमने लगी। घूमते-घूमते एक दिन एक कुटिया दिखाई दी। उसे देखकर मेरा मन नाचने लगा। मेरे पास कोई प्रमाण नहीं, मगर मेरा मन कहता है कि यह वही कुटिया है, जिसमें सावित्री और मदनलाल ने अपने प्रेम के दिन गुज़ारे थे। यहाँ के जल-वायु में मेरे मन को शान्ति मिलती है और आत्मा ब्रह्मानन्द में लीन हो जाती है। जब प्रातःकाल में परमेश्वर के चरणों में झुककर प्रार्थना करने लगती हूँ, तो मुझे ऐसा अनुभव होता है कि वह यहाँ से बहुत ही निकट है और मेरी प्रार्थना के एक-एक शब्द को कान लगाकर सुन रहा है।

इस कुटिया में रहने से मुझे मन की शान्ति मिल गई। अब मुझे कोई इच्छा नहीं। केवल यही आकांक्षा है कि मेरे जीवन की अन्तिम घड़ी इसी पुण्यभूमि में आये; जिसको प्रकृति ने अपने अनंत भण्डार से भरपूर कर रखा है और जिसको आध्यात्मिकता ने अपना आश्रय बनाया है। मेरी देह और उसकी हड्डियाँ भारत की पुण्यभूमि में दफ़न हों, और अगले जन्म में (क्योंकि मुझे पुनर्जन्म पर विश्वास है) मुझे भारतवर्ष ही में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हो।

पंथ की प्रतिष्ठा

यह वह समय था जब पंजाब में महाराजा रणजीत सिंह का राज्य था। उनके भय से कड़े से कड़े हृदय भी पानी-पानी हो जाते थे। महाराजा ने किसी पाठशाला में शिक्षा नहीं पाई, किसी गुरु के सम्मुख सिर नहीं झुकाया। वह पश्चिमी शिक्षा से परिचित न थे। उनको कदाचित् यह भी ज्ञान न था कि पालिटिक्स शब्द के अर्थ क्या हैं। मगर ऐसी अवस्था में भी उन्होंने जिस शान के साथ शासन किया है, उसे इतिहास-लेखक दृष्टिच्युत नहीं कर सकता। इसका प्रधान कारण यह था कि वे न्याय के सम्मुख व्यक्तित्व की परवा करना शासन के लिए घातक समझते थे; और पंथ की प्रतिष्ठा का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। यहाँ तक कि एक बार उन्होंने न्याय के लिए अपने आपको भी पंथ के चरणों में डाल दिया था। यह घटना उनके जीवन में सदा-सदा के लिए एक सितारे की तरह चमकती रहेगी।

[१]

महाराजा रणजीत सिंह में कई गुण थे, मगर वे देवता न थे। उनके विचार बहुत ऊँचे थे। वे अपने धर्म में बहुत पक्के थे। मगर उनमें एक दोष भी था, सौंदर्य की चोट सहन न कर सकते थे। उनकी आयु का पचासवाँ वर्ष था, कि लाहौर में एक परम सुन्दरी वेश्या मोराँ की धूम मची। पहले-पहले उसका नाम थोड़े-से गिने-चुने

लोगों ही में रहा। परन्तु कुछ ही दिनों में यह हाल हुआ कि जिस महफ़िल में मोरां न आती उसका रंग न जमता। वह संगीत-कला में इतनी निपुण न थी, न उसका कंठ ऐसा सुरीला था। प्रायः लोग कहते थे, कि मोरां अशुद्ध गाती है, मगर फिर भी उसकी तानों में वह मोहनी, वह मिठास, वह रस भरा हुआ था कि महफ़िल लोट-पोट हो जाती थी। उसके स्वर में जादू था, शब्दों में कोमलता, परन्तु इससे भी अधिक लोगों को उसका रूप-रंग प्यारा था। उसकी उम्र पन्द्रह-सोलह वर्ष से अधिक न होगी। उसका रंग सेब की तरह मनोहर था, नयन कटार के समान तीखे। वह जब महफ़िल में आती तो दर्शकों में धूम मच जाती थी। होते-होते यह समाचार महाराज के कानों तक पहुँचा।

वह दिन आजकल के दिनों के समान न थे। उस समय नाच-रंग की महफ़िलें सदाचार के विरुद्ध न समझी जाती थीं। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित लोग अपने मकानों पर जलसे करते, तो इन अप्सराओं को भी बुलाया करते थे। इससे उनका मान बढ़ जाता था। महाराज ने मोरां के विश्व-विजयी सौन्दर्य की धूम सुनी तो अधीर हो गए और हुक्म दिया कि नाच का जलसा बड़े समारोह के साथ किया जाये। हुक्म की देर थी, किले में जलसे की तैयारियाँ होने लगीं। दर्बार सज गये, लाहौर में नई चहल-पहल दिखाई देने लगी। ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई विशेष उत्सव होनेवाला है। पंजाब के रसिक लोग दूर-दूर से लाहौर में इस तरह आने लगे जिस तरह दीपक पर पतंग टूटते हैं।

[२]

उस दिन जल्सा शुरू हुए एक सप्ताह गुज़र चुका था।

रात का समय था, बारह बज चुके थे। जल्से के मुखिया ने उठकर मोरां का नाम लिया। लोग आगे खिसकने लगे। सारे जलसे में खलबली मच गई। मोरां घुँघुरुओं की झनकार के साथ आगे बढ़ी। सोती हुई आँखें जाग उठीं। सामने एक शर्मीली लड़की खड़ी थी। महाराज ने तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखा। उन्होंने सुन्दर-से-सुन्दर स्त्रियाँ देखी थीं, परन्तु ऐसी सुन्दरी उनकी आँखों से आज तक न गुज़री थी। वे सँभलकर बैठ गये। मोरां गाने लगी—

कान्हा रंग न मो पे डार ।

इस स्वर में जादू था । देखने में ऐसा प्रतीत होता था, कि लोग इतने दिन सुन-सुनकर उकता गये हैं, मगर मीराँ के स्वर में ऐसा आकर्षण था कि लोग उसको सुन-कर अपने आपको भूल गये । चारों ओर सन्नाटा था । सुई भी गिरती तो आवाज़ आ जाती । दर्शक साँस रोके बैठे थे । एक मीराँ का स्वर था जो इस निस्तब्धता की नदी पर लहरा रहा था ।...

कान्हा रंग न मो पे डार ।

वृन्दावन की कुंज गली में तन मन दीन्यो वार । कान्हा रंग०

सुना हुआ था कि सुन्दरता में जादू है, इस समय इसका समर्थन हो गया । बीन का शब्द सुनकर नाग नाचने लग जाता है, यहाँ तो स्त्री गा रही थी । सारा रंग-भवन मस्त हो गया । चारों ओर निस्तब्धता का साम्राज्य था । एक भोली बालिका ने महफिल पर मन्त्र डाल दिया था । रात का समय, सन्नाटे का आलम, सजा हुआ दर्बार और एक हृदय में उतर जानेवाली आवाज़—

कान्हा रंग न मो पै डार ।

महाराज अपने आपको भूल गए । उनका हृदय जल में तैरते हुए कमल के सामन हिचकोरे लेने लगा । कुछ क्षणों तक ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे किसी नदी में बहते चले जा रहे हैं, और किसी सुदूर देश की अपरिचित भूमि में कोई सौंदर्य की देवी अपनी मस्त तानों से चन्द्रमा को ज्योति को अपनी ओर बुला रही है, और महाराज बेबसी से उसके दर्शनों की उत्कण्ठा से खिचे चले जा रहे हैं । एकाएक महाराज की आँखें खुलीं । देखा, वही महफिल है, वही रंग, उसी तरह लोग झूम रहे हैं । और उसी तरह मीराँ गा रही है—

कान्हा रंग न मो पै डार ।

एका एक गाना बन्द हो गया, मीरां मूर्त्तिवत् चुपचाप खड़ी थी । वह इतनी सीधी-सादी और भोली-भाली देख पड़ती थी कि लोगों को इस बात में भी सन्देह होने लगा, कि गानेवाली यही थी या कोई और । मगर उसकी आवाज़ लोगों के कानों में अभी तक गूँज रही थी । लोगों ने उसकी ओर देखकर आँखों-ही-आँखों में उसकी प्रशंसा की,

मगर महाराज ने मन लुटा दिया। एक सप्ताह के बाद मालूम हुआ कि महाराज ने मोराँ के साथ ब्याह कर लिया है।

[३]

इस समाचार से सिक्खों में खलबली मच गई, जैसे समुद्र में तूफान आ जाता है। इससे पहले महाराज कई ब्याह कर चुके थे, और सिक्खों के एक प्रतिनिधि-दल ने उनकी सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना की थी, कि आपके नित नये ब्याहों से प्रजा के आचार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है, अतएव आप अब कोई ब्याह न करें। महाराज ने इसका जो उत्तर दिया था वह ऐसा समुचित और सभ्यता से भरा हुआ था, कि लोग आनन्द से उछल पड़े थे। महाराज ने कहा था—'खालसाजो! मैं आपका राजा हूँ। राजा का काम प्रजा की भलाई करना है। अगर मेरे किसी काम से प्रजा अप्रसन्न होती हो तो मैं वह काम कभी नहीं करूँगा।' इस उत्तर से लोगों के हृदय पुलकित हो गये थे। उन्हें यह भय न था, महाराज उनकी सदिच्छाओं को इस प्रकार पाँव तले कुचल देंगे। मगर लोग जो न चाहते थे वह हो गया। महाराज ने ब्याह कर लिया। सिक्खों का क्रोध भड़क उठा। जगह-जगह पर जलसे होने लगे, जिनमें जनता की ओर से अप्रसन्नता के साथ उत्तेजना देनेवाली वक्तृताएँ होने लगीं, और साफ़ शब्दों में कहा जाने लगा कि महाराज सिंहासन के योग्य नहीं रहे, क्योंकि उन्होंने पथ का अपमान किया है। कुछ लोग कहते थे, ऐसे कामी का मुँह देखना भी पाप है। एक जोशीले सिक्ख ने पथ को सम्मति दी कि अपनी सेना भर्ती करना आरम्भ कर दो और रणजीत सिंह के साथ युद्ध छेड़ दो। उड़ते-उड़ते यह समाचार अकाली फूलासिंह तक भी जा पहुँचा। उस समय खालसा के धार्मिक-जगत में उनका पद सबसे ऊँचा था। वह ग्रन्थ साहब का पाठ करनेवाले अकाल पुरुष के प्यारे थे, सांसारिक झमेलों से उनको कोई सरोकार न था। परन्तु जब महाराज रणजीत सिंह को देश सम्बन्धी कोई उलझन आ पड़ती थी तो अकाली फूलासिंह खंडा लेकर रणभूमि में निकल आते थे, और तूफान में फँसी हुई नौका को शान्ति के तीर पर लगा देते थे। वे इतने शक्तिशाली थे कि महाराज रणजीत सिंह की आज्ञा टल सकती थी, परन्तु अकाली फूलासिंह की आज्ञा पत्थर की लकीर थी।

मगर फिर भी महाराज महाराज थे, सेना उनके इशारे पर प्राण देती थी। कामदेव का तीर खाकर उन्होंने इसी शक्ति की शरण ली थी।

अकाली फूलासिंह ने यह समाचार सुना तो उनका क्रोध भड़क उठा। वे खंडा लेकर खड़े हो गये। इस समय उनके नेत्रों में रक्त उछलता था, हृदय में क्रोध धधकता था। गुरुद्वारों के नाम आज्ञा लिखा दी, कि महाराज रणजीत सिंह की अरदास स्वीकार न की जाये। यह आज्ञा सिक्खों की क्रोधाग्नि पर ईंधन का काम दे गई। राज्य की दीवारें कांपने लगीं। महाराज को भय हुआ कि कहीं जीवन भर की कमाई पर पानी न फिर जाये। हृदय में पश्चात्ताप करने लगे, कि बुढ़ापे में क्या कर बैठे। परन्तु तीर कमान से निकल चुका था; अब उसका लौटना असंभव था। फिर भी धीरज के साथ हवा का रुख देखते रहे कि कदाचित् थम जाये। पर जब इस हवा ने आंधी का रूप धारण कर लिया, तो उनका हृदय भी कांपने लगा, जिस प्रकार तूफान में नौका कांपती है। आशा को निराशा ने ठोकर लगाई। घबराये हुए अकाली फूलासिंह की सेवा में पहुँचे, और बोले—'यह नौका अब आप ही की दया से बच सकती है, मेरी भुजाओं में बल नहीं कि इस तूफान को रोक सकूँ।'

फूलासिंह बैठे थे, खड़े हो गये और क्रोध से बोले—'यह कुकर्म क्यों किया था?'

महाराज को यह आशा न थी, कि अकाली फूलासिंह ऐसा कोरा उत्तर देंगे। उनको आशा थी कि मेरा एक बार जाकर नम्रता के दो शब्द कह देना ही बहुत है, लोहा मोम हो जायगा। पर आज रणजीत सिंह के प्रताप की अग्नि ठण्डी हो चुकी थी। उसमें गर्मी न थी। फूलासिंह का मुँह-तोड़ जवाब सुनकर उनके नेत्रों में जल भर आया, भर्राये हुए कण्ठ से बोले:—

'अब तो जो कुछ होना था, हो गया।'

'फिर मुझसे क्या चाहते हो?'

'मेरी अरदास स्वीकार नहीं होती।'

'और होनी भी नहीं चाहिए।'

महाराज ने हाथ बाँधकर सिर झुका दिया। कैसा दृश्य था! राज-मुकुट ग़रीब

सदाचार के चरणों में लोट रहा था। फूलासिंह ने उत्तर दिया—'यह अपराध समाज का अपराध है, इसे समाज ही क्षमा कर सकता है।'

'मैं इसके लिए भी तैयार हूँ।'

'तो कल अमृतसर आ जाओ। फैसला हो जायेगा।'

महाराज की आँखों में अपना अपमान नाचने लगा। सोचने लगे, किस तरह भरी हुई सङ्गत में अपना अपराध अङ्गीकार करूँगा? जो सिर सदा अभिमान से ऊपर उठा रहा है, वह लज्जा से किस तरह भूमि की ओर देखेगा! जो जिह्वा सदा आज्ञा देती रही है, वह विनय और याचना के शब्द कैसे कहेगी? इन विचारों ने उनके हृदय में आग-सी लगा दी, धूआँ नेत्रों से नीर के रूप में बहने लगा, रोते हुए बोले:—

'मेरी मान-मर्यादा नष्ट हो जायगी।'

फूलासिंह ने धीरे से उत्तर दिया:—

'समाज के सम्मुख राजा और रङ्क दोनों एक समान हैं।'

'तो इसके सिवा और कोई उपाय नहीं?'

'नहीं'

'मुझे सङ्गत में आना पड़ेगा?'

'हाँ'

रणजीत सिंह की विचारधारा बदल गई। सोचने लगे, यह कैसा सच्चरित्र आदमी है। ऐसा दृढ़, जैसे जल में शिला। जल की तरगें आती हैं और टकराकर पीछे हट जाती हैं, परन्तु शिला उसी तरह खड़ी रहती है। उसका धैर्य्य जरा भी विचलित नहीं होता। इसी तरह यह न्याय-निष्ठ और ईश्वरभक्त भी दृढ़ विचार रखता है, जो सिंहासन के साथ टक्करें मार रहा है। और फिर अपना कोई स्वार्थ नहीं, केवल न्याय-मात्र का प्रश्न है। उन्होंने मन ही मन में अकाली को प्रणाम किया और भीगी हुई पलकों को पोंछते हुए चले गये।

[४]

दोपहर का समय था, रणजीत सिंह अपने महल में पहुँचे। इस समय उनका मुख

उदास था, चित्त दुखी। मोराँ अठलाती हुई सामने आई, मगर उनको देखकर ठिठक गई, और आगे न बढ़ सकी। भय ने पाँव में जंजीर डाल दी थी।

एकाएक महाराज ने सिर उठाया, और क्षीण स्वर में कहा—'मोराँ!'

मोराँ की नस-नस में अभिमान लहरें मारने लगा। मुस्कराती हुई बोली—

'महाराज!'

'तुम्हारे कारण मुझे लज्जित होना पड़ा।'

मोराँ का कलेजा धड़कने लगा, मुँह का रंग सफेद हो गया। घबराकर बोली—

'आप क्या कह रहे हैं?'

'तुम्हारे कारण मुझे लज्जित होना पड़ा।'

'क्यों?'

'मैं अमृतसर जा रहा हूँ। वहाँ मुझे भरी सङ्गत के सामने मानना पड़ेगा, कि यह ब्याह करके मैंने अपराध किया है। और जो दण्ड मुझे सङ्गत दे, उसे स्वीकार करूँगा।'

'लिखकर क्षमा माँगने से काम नहीं चल सकता?'

'नहीं, अकाली फूलासिंह नहीं मानता।'

'नम्रता सब कुछ कर सकती है।'

'अकाली फूलासिंह को नहीं झुका सकती।'

'राज्य की शक्ति...

......उससे हार चुकी है।'

मोराँ ने आँख का तीर चलाया—'क्या वह आदमी नहीं है?'

महाराज ने उत्तर दिया—'ऐसा ही मालूम होता है, कि वह आदमी नहीं है। अब मुझे सङ्गत जो दण्ड देगी वह स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा राज्य छिन जाने का भय है।'

मोराँ के हृदय में एक सन्देह-सा उठा। इससे उसका मस्तिष्क खौलने लगा, रुक-रुककर बोली—'क्या दण्ड मिलेगा?'

'यह कौन कह सकता है?'

'और जो दण्ड आपको दिया जायगा उसे आप स्वीकार करना चाहते हैं?'

'चाहने का सवाल नहीं, करना पड़ेगा।'

'यदि मुझे छोड़ना पड़े तो...'

महाराज के हृदय पर किसी ने हथौड़ा मार दिया। कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहे। इस समय उनके दिल में दो विरोधी शक्तियाँ परस्पर लड़ रही थीं। ठण्डी साँस भरकर बोले—'मोराँ, मुझे तुमसे प्रेम है। मैंने तुम्हारे लिए वह किया जिसने मुझे सारे देश में मुँह दिखाना कठिन कर दिया। मेरा हृदय तुम्हारा चाहनेवाला पतङ्गा है। परन्तु यह सब होते हुए भी यदि पंथ की आज्ञा यह होगी कि मोराँ को छोड़ दो तो मैं अस्वीकार न कर सकूँगा। मैं तुम्हें छोड़ दूँगा।'

मोराँ का मुँह लाल हो गया; नेत्रों में जल के बिन्दु छलकने लगे। गुलाब के फूल पर वृष्टि हो गई। परन्तु महाराज पर कुछ प्रभाव न हुआ, वे उसी प्रकार स्थिर बैठे रहे।

मोराँ ने मीठे और महीन स्वर से पूछा—'आप मुझे छोड़ देंगे?'

'यदि सङ्गत की यही आज्ञा हुई तो छोड़ दूँगा।'

'बड़े निठुर हैं आप!'

'यदि तुम मेरे स्थान पर होतीं तो यह बात न कहतीं। मेरे मुँह की ओर देखो, वह मेरे दिल का शीशा है।'

मोराँ रोने लगी, परन्तु महाराज की आँखों में आँसू न थे।

[५]

दूसरे दिन तख्त अकाल बुंगा में सङ्गत लगी हुई थी कि एक प्रतिष्ठित पुरुष सफेद वस्त्र पहने, सफेद साफा गले में डाले जूतियों में खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर बोला—'मैं पंथ का अपराधी हूँ।'

अकाली फूलासिंह ने पूछा 'तुम कौन हो?'

'रणजीत सिंह।'

सङ्गत की आँखें उधर उठ गईं। क्या यही वह रणजीत सिंह है, जिसके दबदबे से सारा देश काँप रहा है! अकाली ने पूछा—क्या कहते हो?'

'मैं अपराधी हूँ।'

'तुमने क्या अपराध किया है?'

'मैंने एक वेश्या से ब्याह कर लिया है।'

'इससे पहले भी तुम्हारा कोई ब्याह हुआ है?'

'हाँ, महाराज! हुए हैं।'

'कितने?'

'चौदह।'

'और यह पन्द्रहवाँ है?'

'हाँ, अकालीजी! यह पन्द्रहवाँ है।'

'तुमसे कहा गया था कि अब ब्याह न करना, प्रजा पर बुरा प्रभाव पड़ता है?'

'हाँ, अकालीजी, कहा गया था!'

'फिर तुमने इसका ख्याल क्यों न किया?'

'मैं पागल हो गया था।'

'अब क्या चाहते हो?'

'मुझे धर्मानुसार दण्ड दिया जाये, और मेरी अरदास स्वीकार की जाये।'

'संगत जो दण्ड देगी, उसे स्वीकार करोगे?'

'सिर आँखों से।'

अकाली फूलासिंह ने संगत में से चार प्रतिष्ठित पुरुषों को चुन लिया, और सलाह सम्मति के पश्चात् खड़े हुए। संगत अवाक् होकर सुनने लगी। फूलासिंह ने कहा :—

'खालसाजी! यह महाराज रणजीत सिंह हैं। आपने अपना जीवन-मरण इनके हाथ में सौंप रखा है। इनका धर्म यह है, कि इस धरोहर की रक्षा में अपने प्राणों तक की बाज़ी लगा दें, और सिद्ध कर दें कि देश ने इन पर विश्वास करने में भूल नहीं की। इनके प्रत्येक कार्य्य का, प्रत्येक चेष्टा का, और प्रत्येक शब्द का प्रजा पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए इन्हें उचित है कि अपनी प्रत्येक बात में सावधान रहें। यह अपने आप राजा नहीं बन सकते थे, इन्हें राजा आपने बनाया है। यह अपने आप इस उच्च पदवी पर नहीं पहुँच सकते थे, इन्हें इस पदवी पर आपने पहुँचाया

है। यह आपके भाग्य-स्वामी अपने आप नहीं बन सकते थे, इन्हें यह अधिकार आपने दिया है। इसलिए आपको अधिकार है, कि इनके प्रत्येक कर्म्म का इनसे उत्तर माँगें। इनसे कहा गया, कि आपका इतने ब्याह कर लेना एक बड़ी भारी भूल है; परन्तु इन्होंने परवा न की। हम उस देश के रहनेवाले हैं, जहाँ के राजा रामचन्द्रजी ने प्रजा के आचार की रक्षा के लिए अपनी निर्दोष पत्नी को वनवास दे दिया था। इसलिए हम इनसे भी इस बात की आशा रखते थे कि यह हमारी भावनाओं की रक्षा करेंगे; परन्तु इन्होंने हमारी कामनाओं को पददलित कर दिया और जाति के निर्णय के विरुद्ध अनेक रानियों के होते हुए एक वेश्या से ब्याह कर लिया।'

महाराज के लिए एक-एक शब्द बर्छी था, मगर लोगों के चेहरों पर प्रसन्नता खेल रही थी। वे अकाली की वक्तृता पर झूम रहे थे। कैसी वीरता है, जो भय और दबदबा दोनों से ऊपर है, जो प्रतिरोध के दाँतों में सत्य के मार्ग पर बढ़ी चली जाती है। युद्धक्षेत्र में तलवार चलाना सहज है, परन्तु संबन्ध का विचार किये बिना, एक अपराधी की नम्रता देखने के पश्चात् उसके साथ सच्चा-सच्चा न्याय करना सहज नहीं। लोगों ने जोश से कहा, 'सत् सिरी अकाल।'

इस शब्द से महाराज का हृदय बैठ गया, परन्तु अकाली फूलासिंह पर कुछ असर न हुआ। उन्होंने अपना भाषण उसी तरह जारी रखा—

'खालसाजी! प्रजा पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ने का भय है। अतएव पाँच सिक्खों की सभा ने निश्चय किया है, कि महाराज इक्कीस दिन संगत की जूतियाँ साफ़ करें, इक्कीस दिन संगत के लिए अपने हाथ से दातन काटकर लायें, सवा लाख रुपया जुरमाना दें; और पेड़ के साथ बांधकर इनको एक सौ एक कोड़े लगाये जायँ। क्या यह फैसला संगत को स्वीकार है?'

संगत ने एक स्वर से कहा, 'स्वीकार है।'

'क्या यह फैसला रणजीत सिंह को स्वीकार है?'

रणजीत सिंह ने सिर झुकाकर कहा, 'स्वीकार है।'

'तो कपड़े उतार दो। कोड़े संगत के सामने लगाये जायँगे।'

[६]

यह शब्द रणजीत सिंह पर बिजली बनकर गिरे। उनको यह ख़्याल न था, कि फूलासिंह इतने दूर चले जायँगे। वे समझते थे, केवल दण्ड देकर छुटकारा हो जायगा, अथवा अनुनय-विनय कर देने से लोगों का क्रोध दूर हो जायगा। मैं कोई साधारण अपराधी नहीं हूँ, शासन की डोर तो मेरे ही हाथ में है। इसलिए जब उन्होंने दण्ड के पहले तीन भाग सुने, तो उनको ज़रा भी विस्मय न था; परन्तु दण्ड का चौथा भाग सुनकर तो चकित रह गये। उनको सदेह होने लगा कि कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ! मगर जब हुक्म हुआ कि कपड़े उतार दो, सज़ा इसी समय मिलेगी, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। यह अपमान ऐसा अपमान था जिसके लिए महाराज तो एक तरफ़, शायद लोग भी तैयार न थे।

तैयार न थे, यह सत्य है, परन्तु इसलिए नहीं कि वह इस सज़ा को अधिक समझते थे; बल्कि इसलिए कि उनको अकाली फूलासिंह से भी इसकी आशा न थी। इस साहस ने लोगों के हृदय में अकाली फूलासिंह की श्रद्धा और भी बढ़ा दी। उन्होंने चिल्लाकर कहा 'सत् सिरी अकाल।' यह ध्वनि, अकाली फूलासिंह की विजय की घोषणा थी।

रणजीत सिंह ने कपड़े उतार दिये और नम्रता से कहा—

'मैं तैयार हूँ।'

फूलासिंह ने एक आदमी को इशारा किया। उसने महाराज रणजीत सिंह को एक वृक्ष के साथ बाँध दिया और कोड़ा तैयार करने लगा। इस समय लोगों के दम रुके हुए थे। महाराज की ओर से लोगों के हृदय में जो क्रोध था, इस दृश्य को देखकर दया में परिणत हो गया। गर्व और अभिमान के सैकड़ों शत्रु हैं; मगर बेबसी का शत्रु कोई नीच ही हो सकता है। अगर महाराज इस आज्ञा को मानने से इनकार करते, तो संभव है, लोगों का क्रोध और भी भड़क उठता; मगर इस विनय-भाव ने उनके अपराध का महत्त्व घटा दिया।

पञ्चायत का एक आदमी खड़ा होकर बोला, 'एक'...कोड़ा मारनेवाला तैयार हो गया। उसने कहा, 'दो'...लोगों के कलेजे मुँह तक आ गये। उनकी इच्छा हुई, कि

इस समय कोई चमत्कार हो जाये। कोई मानवी-शक्ति से बाहर घटना हो जाए, और महाराज इस अपमान-जनक सज़ा से बच जायें। इस समय महाराज के गुण अपने पूर्ण उत्कर्ष के साथ लोगों के सम्मुख प्रकट हुए। आवाज आई 'तीन'...लोगों के शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। महाराज ने आँखें बन्द कर लीं। परन्तु अभी कोड़ा मारनेवाले का हाथ हिला भी नहीं था, कि अकाली फूलासिंह की गर्जती हुई आवाज़ सुनाई दी—'ठहर जाओ।'

[७]

लोगों के दिल आनन्द से उछलने लगे। सहस्रों आँखें अकाली फूलासिंह के चेहरे पर जम गईं। महाराज आश्चर्य से देखने लगे, कि अब क्या होता है!

अकाली फूलासिंह बोले, 'खालसाजी! इससे पहले कि महाराज को दण्ड दिया जाय, मैं आपसे एक और प्रार्थना करना चाहता हूँ! यह आदमी जो आपके सामने बेबसी की जीती-जागती मूर्ति बना खड़ा है, महाराज रणजीत सिंह है, जिसके हाथ में शक्ति आज पुतली बनकर नाच रही है। यह वह आदमी है, जिसके आदेश से रक्त की नदियाँ बह सकती हैं, जिसके इशारे से हत्या का बाज़ार गर्म हो सकता है। यह वह आदमी है, जिसकी टेढ़ी आँखों से जलालाबाद की दीवारें काँप रही हैं, जिसके जेनरल का नाम लेकर सरहदी (सीमा प्रांत की) स्त्रियाँ अपने रोते हुए बच्चों को चुप कराती हैं। ऐसा शक्तिशाली वीर आपके सम्मुख वृक्ष के साथ बँधा हुआ है, मानो बेबसी की मूर्ति है। क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि इसको दण्ड मिल चुका है। कोड़े का दण्ड निचली जात के लोगों के लिए है, उच्च कोटि के लिए यह दण्ड किसी अवस्था में भी उचित नहीं हो सकता। और फिर यह तो स्वयं पंजाब के महाराज हैं। इनका वृक्ष के साथ अपने आपको बँधवा लेना प्रकट करता है कि इन्होंने संगत की आज्ञा को स्वीकार कर लिया है। पंचायत का आदमी कोड़े मारने की आज्ञा देता है, 'एक' 'दो' कहा जा चुका था, 'तीन' का शब्द मुँह से निकल चुका था, कोड़ेवाला तैयार था। अर्थात् जहाँ तक महाराज का संबन्ध है, उनको दण्ड से अधिक दण्ड मिल चुका है। अब सवाल यह है कि क्या हम इतने नीच हो चुके हैं, कि अपने महाराज से, जो हमारी आज्ञा का यहाँ तक

सम्मान करते हैं, इस प्रकार का व्यवहार करेंगे ? इसलिए खालसाजी ! मेरी राय यह है कि आप कोड़ों का दण्ड क्षमा कर दें।'

लोगों ने वह सुना जिसकी उन्हें इच्छा थी। वह आनन्द से झूमने लगे। 'सत् सिरी अकाल' की गगनभेदी ध्वनि हुई। अकाली की राय पास हो गई। उन्होंने आज्ञा दी, महाराज को खोल दिया जाये।

महाराज को खोल दिया गया। वे धीरे-धीरे आगे बढ़े, और फूलासिंह के चरणों से लिपट गये। फूलासिंह ने उन्हें उठाकर गले से लगा लिया। इस समय महाराज के नेत्रों में आँसू थे, मुख पर तेज। वे बालकों के समान सिसकियाँ भरते हुए बोले, 'आपने मुझे बतला दिया है कि समाज के सामने मेरी भी कोई गिनती नहीं है।'

अकाली ने उत्तर दिया, 'आपने जिस विनय से अपने आपको न्याय के चरणों में फेंका था, वह पवित्र दृश्य मुझे आजीवन नहीं भूल सकता। भारत की भावी संतान आपके इस साखे पर श्रद्धा के फूल चढ़ायेगी।

यह कहते-कहते उनकी आँखों में भी आँसू आ गये। उधर लोग दूर खड़े यह स्वर्गीय दृश्य देख रहे थे, और चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे, 'सत् सिरी अकाल।'

———

सत्य मार्ग

[१]

बाबू मुहम्मद अब्बास लखनऊ के एक प्रतिष्ठित कुल के दीपक थे। उनके घरवालों को उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। वे चाहते थे; कि मुहम्मद अब्बास अमीर बनें और किसी उच्च पद पर पहुँच जायें। उनकी कछुए चाल की उन्नति से वे सन्तुष्ट न थे। उन्होंने जपना जीवन कचहरी के एक साधारण अनुवादक की स्थिति से आरम्भ किया था। उस समय उनकी दृष्टि के सामने उन्नति का इतना विस्तृत क्षेत्र न था। मगर ज्यों-ज्यों उन्नति के क्षेत्र में स्थान मिलता गया, उनकी तृष्णा भी बढ़ती गई। यहाँ तक कि एक्स्ट्रा ऐसिस्टेण्ट कमिश्नरी की कुर्सी पर बैठकर भी मन को संतोष न हुआ। एक दिन वह था, जब वह इस पद को प्यासी आंखों से देखते थे। तब उनमें इतनी शालीनता न थी। मगर आज उनकी आंखों में यह पद जँचता न था। अब मस्तिष्क में अभिमान ने स्थान बना लिया था। प्रायः सोचा करते, थोड़े दिन की बात है, इस जंजाल से निकल जाऊँगा। उनका विचार था, इसकी पहली सीढ़ी खान साहब की उपाधि है। इन शब्दों में उनको हार्दिक आनन्द, सच्चा सुख मिलता था। वे इस उपाधि के लिए ऐसे अधीर हो रहे थे, जैसे बालक खिलौने के लिए और चकोर चन्द्रमा के लिए। उनकी स्त्री सईदा बेगम इन विचारों को सुनती, तो उसका चेहरा

खिल उठता था। उसकी मुस्कराहट बाबू मुहम्मद अब्बास की तृष्णा पर वही काम करती जो ईंधन पर अग्नि। वे भविष्य के सुखमय समय की कल्पना करते और ख़ुशी से झूमने लगते। उस समय उनका हृदय नाचने लग जाता था, जैसे बादलों को देखकर मोर नाचने लगता है।

[२]

परन्तु यह सब होते हुए भी वे अपने देश की तरफ़ से बे-परवा न थे। उनके मन में देश-प्रेम के लिए अभी थोड़ा-सा स्थान बाक़ी था। जब कभी उपाधि की बात भूल जाती, तो उनका दिल देश के लिए रोने लग जाता था। भारतवर्ष की अधोगति पर उन्होंने अनेक बार आँसू बहाये थे, कई बार सुहृद मित्र कहते, कैसे निष्ठुर हो, अगर तुम सचमुच अनुभव करते हो, तो नौकरी का जूआ गर्दन से उतारकर परे क्यों नहीं फेंक देते? अगर सचमुच देश के साथ प्रेम है, तो कुछ करके दिखाओ और जाति-सेवा का काम हाथ में लो। देश को इस समय तुम्हारे जैसे पवित्र और योग्य बच्चों की ज़रूरत है। इस पर उनका चेहरा तमतमा उठता। वे जोश से खड़े होकर अपने दोनों हाथ ज़ोर से मेज़ पर दे मारते और कहते, मगर देश मुझे क्या देगा? मैं देश के लिए नौकरी छोड़ने और अपना भविष्य बिगाड़ने को तैयार हूँ, मगर क्या देश भी यह बात सोचेगा, कि मैंने उसके लिए कुछ किया है? तुम देश-सेवा के मतवाले हो, तुम्हारा हृदय उन्मत्त हो रहा है, मगर यह तो बतलाओ, कि जो देश के लिए भिखारी बने बैठे हैं, जो इसके लिए अपना सर्वस्व लुटा बैठे हैं, जो इस पर अपने आपको निछावर कर चुके हैं, तुमने उनके लिए क्या किया है? क्या तुमने कभी सोचा है, कि उनकी ओर तुम्हारा भी कुछ कर्त्तव्य है? तुम समाचार-पत्रों के लेख पढ़कर फड़क उठते हो, लेक्चर सुनकर उछल पड़ते हो, मगर सच तो यह है कि 'अहह', 'वाह भई वाह' तक ही तुम्हारी बातें हैं, इससे आगे जाना तुम आवश्यक नहीं समझते। मैंने बड़े-बड़े देश-भक्तों को अपनी अवस्था पर आँसू बहाते देखा है। मैं तो यह चाहता हूँ कि देश की सेवा यदि इस तुच्छ शरीर से हो सके, तो अवश्य करूँ। मगर मैं, दारिद्र्य के गढ़े में फँसकर अपने जीवन को नरकमय बनाने के लिए तैयार नहीं। मैं इसे संसार का सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझता हूँ। यह खरी-खरी

सुनकर उनकी मित्र-मण्डली निरुत्तर हो जाती थी, मगर पण्डित कैलाशनाथ चुप न होते थे। वे प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के एक गर्म मेम्बर और बाबू मुहम्मद अब्बास के लगोटिये मित्र थे। उन्हें पण्डितजी पर पूरी-पूरी श्रद्धा थी। वे उनकी असीम देश-भक्ति को स्वीकार करते थे। उनकी मित्रता देखकर लोग कहते थे, यह आग-पानी का मेल है। कई लोग इस पर खिल्ली उड़ाने से भी न चूकते थे। मगर इन दोनों को इसकी परवा न थी। वे जब तक एक दूसरे को देख न लेते, उनको चैन न आता था। मुहम्मद अब्बास के कटु विचारों को सुनकर जब सब चुप हो जाते, तो पण्डित कैलाशनाथ मधु से अधिक मीठे और हलुवे से अधिक कोमल शब्दों में उत्तर देते—'मेरे भोले मित्र! तुम भूलते हो। देश-सेवा त्याग की सबसे ऊँची सीढ़ी है। यहाँ हिसाब नहीं किया जा सकता, न यहाँ गिनती की जा सकती है। यह तो बलिदान का मार्ग है। इसका पुरस्कार रुपया नहीं हो सकता। इस कंगाल रुपये की वहाँ तक पहुँच कहाँ? जो देश को हृदय देते हैं, उन्हें देश अपना हृदय देता है। जो देश के बनते हैं, देश उनका बन जाता है। मित्र मण्डली में 'धन्य' 'धन्य' की ध्वनि गूँजने लगती। परन्तु मुहम्मद अब्बास पर ज़रा भी असर न होता था।

[२]

सायंकाल हो गया था, आकाश पर ऊदी घटाएँ छाई हुई थीं। बाबू मुहम्मद अब्बास ने छड़ी हाथ में ली और पण्डित कैलाशनाथ के पास जाकर कहने लगे, 'क्यों? क्या हो रहा है?'

कैलाशनाथ कांग्रेस-कमेटी के कागज़-पत्र देख रहे थे, सिर उठाकर बोले, 'ज़रा हिसाब-किताब देख रहा हूँ।'

मुहम्मद अब्बास ने कहा, 'मैं तुम्हें कुछ दिखाने आया हूँ, चलोगे?'

'कुछ बताओ तो कहूँ।'

'तुम्हें मालूम है, कोई एक महीना हुआ, एक लड़का कैद हो गया था।'

'हाँ! अमरनाथ असीर। वही जिसने एक जलसे में कविता पढ़ी थी।'

'हाँ, वही। कैसा आदमी है?'

'बहुत दिलेर, लखनऊ में उसके जोड़ का दूसरा आदमी नहीं।'

'तो चलो, तुम्हें उसके घर का हाल भी दिखा दूँ, देखकर दंग रह जाओगे। रोज कहते हो, देश-सेवा करो, इसका भी उत्तर मिल जायगा।'

पण्डित कैलाशनाथ चौंक पड़े। 'क्या उसके घरवालों को कुछ कष्ट है ?'

'मेरा मुँह न खुलवाओ, चलकर अपनी आँखों से देख लो।'

पण्डित कैलाशनाथ उठकर उनके साथ हुए, और एक तङ्ग गली के एक मकान में पहुँचे। वहाँ एक बालक रोते-रोते कह रहा था—'मा, बाबू कब आयेगा ?'

'बेटा, परमात्मा भेजेगा तो आ जायेगा।'

'कहाँ गया है !'

'बाहर।'

'बाहर कौन ले गया है !'

बहू के उत्तर की प्रतीक्षा न करके बूढ़ी सास कड़ककर बोली—'यह लोग ही ले गये हैं। परमात्मा उनका नाश करे। अब मेरा बेटा जेल में है, आप मजे उड़ा रहे हैं। कभी उसको फुला-फुलाकर शेर पढ़वाया करते थे। अब कोई हमारा हाल तक नहीं पूछता। कई दिन से भूखे बैठे हैं, पर क्या मजाल जो कोई दरवाजे पर भी झाँक जाये। अब उनको हमसे डर लगता होगा।'

कैलाशनाथ की आँखें खुल गईं। कैसी भयानक घटना है, जिसकी प्रशंसा से समाचार-पत्र भरे रहते हों, जिसके नाम पर लोग सिर झुका लेते हों, उसके घरवाले भूखे मरते हों। कैलाशनाथ के नेत्रों से आँसू बह निकले। वे रोते हुए आगे बढ़े, और अमरनाथ की मा के सामने घुटने टेककर बैठ गये। इस समय उनका कण्ठ भर्राया हुआ था, सिस्कियाँ भरते हुए बोले—'मा ! यह न कहो। इसका उत्तरदायित्व हम पर है। तुम्हारा लड़का हमारे लिए काम करता था, हमारे साथ काम करता था। उसके कुटुम्ब की खबरगीरी करना हमारा काम था। न्याय यह बोझ हमारी गर्दन पर डालता है। देश को शाप न दो। तुम शहीद की मा हो, तुम्हारी गर्म आहों से देश में आग लग जायगी। तुम धन्य हो, जिसके पुत्र ने लखनऊ का नाम रख लिया है। हम अपने चमड़े की जूतियाँ बनवायेंगे, हम भूखे रहेंगे, हम कष्ट सहन करेंगे, परन्तु तुम्हें न भूलेंगे।'

यह कहकर उन्होंने दस-दस रुपये के दस नोट निकाले और वृद्धा के सामने रखकर बोले, 'यह आपको स्वीकार करने होंगे, नहीं तो मैं आपके द्वार से नहीं उठूँगा।'

अमरनाथ की स्त्री ने घूँघट के अंदर से कहा—'यह रुपये हम न लेंगे।'

अमरनाथ की मा की आँखों में आँसू आ गये। कैलाशनाथ को गले लगाकर बोली, 'बेटा! मेरे मुख से क्रोध में जो शब्द निकल गये हैं, उन्हें क्षमा कर दो। मेरा मन बस में न था, परन्तु तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ, कि परमात्मा तुम्हें देश की सेवा करने का साहस दे। जिस देश में तुम्हारे जैसे बालक हैं, उसकी सेवा के लिए मेरे पास सात पुत्र होते, तो सातों को मृत्यु के मुँह में धकेल देती। मगर मुझे शर्मिन्दा न करो। मैं यह रुपये न लूँगी, मेहनत-मज़दूरी से पेट पालूँगी।'

मुहम्मद अब्बास के हृदय पर चोट लगी। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, मैं कितना क्षुद्रहृदय, कितना तंगदिल हूँ जो थोड़ी-सी बात के लिए उल्टे मार्ग पर चल रहा हूँ। यह स्त्री है; फिर भी इसके हृदय में ज़रा-सी बात ने आग लगा दी। मगर मैं पुरुष होकर भी विचारों का इतना ओछा हूँ। देखते देखते लज्जा ने उनका मुंह लाल कर दिया। वे यहाँ विजय प्राप्त करने आये थे, परन्तु स्वयं पराजित हो गये। पण्डित कैलाशनाथ को अपनी बात न मनवा सके। अवस्था पलटते देर नहीं लगती, यह बात सिद्ध हो गई।

[४]

उस दिन ३१ जुलाई थी।

बम्बई का बच्चा-बच्चा व्याकुल था। मन्दिरों में दीपक जल रहे थे, मसजिदों में दुआएँ माँगी जा रही थीं। प्रत्येक मुख उदासीन था, प्रत्येक आँख भीगी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि देश पर कोई महान सङ्कट आनेवाला है। सरदारगृह होटल के इर्द-गिर्द लोगों का समूह ढाढ़ें मार रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद होटल की एक खिड़की में एक आदमी आता और कुशल-क्षेम का इशारा करके चला जाता। उस समय लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहता। वे आत्मा की पूर्ण शक्ति से चिल्ला

उठते थे, 'लोकमान्य भगवान तिलक की जय।' परन्तु दूसरे ही क्षण में आशा निराशा का रूप धारण कर लेती, नेत्रों से आँसू बह निकलते, कलेजे धड़कने लगते। उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो विपत्ति की घड़ी लोगों के सामने खड़ी है!

टन!

घड़ी ने रात के साढ़े बारह बजाये, बम्बई की दीवारें हिल गईं, लोकमान्य चल बसे।

दूसरे दिन बम्बई में प्रलय मची हुई थी। हर एक गली-कूचे से करुण रोदन का शब्द निकलता था। लोग इस तरह रोते थे, जैसे उनका कोई निकट सबन्धी मर गया हो। दुकानें बन्द थीं, घरों से धुआँ न उठता था। सारा नगर शोक मना रहा था। बाल, वृद्ध, युवक, नर-नारी सबके मुँह पर यही चर्चा थी। कई कोमल हृदय तो फूट-फूटकर रो रहे थे। और जो देश-सेवा के काम में उतरे हुए थे उनकी तो दशा ही और थी। वे कहते थे हमारा बाप चला गया। उसने देश के लिए बहुत कष्ट उठाये। जब उसने काम आरंभ किया था, भारतवर्ष सोया पड़ा था। और आज जब यहाँ जागृति के अंकुर फूटे हैं, तो विधाता के निष्ठुर हाथों ने उसे हमसे अलग कर दिया। हा! कदाचित् वे कुछ समय और जीते रहते तो अपने मन का मनोरथ पूरा होता देख लेते। मगर मौत किसकी सुनती है?

जब अर्थी उठी, तो साथ लाखों की भीड़ थी। किसी राजे-महाराजे के मरने पर भी इतने लोग कम साथ गये होंगे। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, लोगों के सिर ही सिर दिखाई देते थे। कन्धे से कन्धा छिल रहा था और तिल फेंकने को स्थान न मिलता था। मगर फिर भी लोग जा रहे थे। एक देशभक्त की मृत्यु पर अश्रु बहाना वे अपना परम धर्म समझते थे। इस भीड़ के रेले में पण्डित कैलाशनाथ और बाबू मुहम्मद अब्बास इस तरह बहे जाते थे, जिस प्रकार नदी की धारा में तिनके बहे जाते हैं। उनको धक्के पर धक्का लग रहा था, मगर पैर पीछे न हटते थे।

श्मशान में पहुँचकर लोकमान्य का शव चिता पर रखा गया। इस समय लोगों के चेहरों पर उदासीनता थी, नेत्रों में आँसू। वे सोचते थे, क्या वह गर्ज फिर

सुनाई न देगी ? क्या यह देश-भक्ति की मूर्ति फिर दिखाई न देगी ? हा ! मृत्यु कैसी निष्ठुर है ! प्रत्येक हृदय में शोक छाया हुआ था। सहसा चिता को आग लगाई गई। अब लोग धीरज न रख सके। जिस प्रकार बाँध टूटने से पानी बह निकलता है, उसी प्रकार लोगों की चीखें निकल गईं। वे अनाथ बालकों के समान फूट-फूटकर रोने लगे। हलचल-सी हुई और एक नौजवान मुसलमान लोकमान्य की चिता में कूद पड़ा।

भीड़ में कोलाहल मच गया। कई लोगों ने आगे बढ़कर उसे चिता से निकाला और अस्पताल ले गये।

इस घटना ने मुहम्मद अब्बास का दिल हिला दिया। रात को घर वापस आये, तो रोते हुए पण्डित कैलाशनाथ के पैरों पर गिर पड़े और बोले,—'मैं आज तक अँधेरे में था। लोकमान्य की मृत्यु ने मेरी आँखें खोल दी हैं। मेरे दिल पर पहली चोट उस समय लगी, जब अमरनाथ असीर को निर्धन मा ने तुमसे सहायता लेना अस्वीकार कर दिया था। दूसरी चोट आज लगी है, जब देश ने अपने सरदार का इतने समारोह के साथ शोक मनाया है, और एक मुसलमान नौजवान अपने आपको उनकी चिता पर गिराकर भस्म कर लेना चाहता था। मेरा विचार था, देश अपने सेवकों का सम्मान नहीं करता, मगर मुझे इस समय मालूम हुआ कि मैं कितनी बड़ी भूल में था। मैं आज तक उपाधियों के पीछे दौड़ता फिरा हूँ, परन्तु कल से देश-सेवा का व्रत ग्रहण करूँगा। आशीर्वाद दो कि मुझे देश-सेवा करते-करते जीना और देश-सेवा करते-करते मरना नसीब हो।'

यह कहते हुए उन्होंने आँखें उठाईं। पुतलियों के स्थान में दिल रखा हुआ था। पण्डित कैलाशनाथ ने 'अब्बास' कहा और इससे अधिक कुछ न कह सके।

अब्बास किसी दूसरी दुनिया के दृश्य देख रहे थे।

भग्न-हृदय

[१]

लाला छज्जूमल ने हुक्का पीते-पीते अपने लड़के से पूछा—'बेटा! यहाँ तो बड़ी गड़बड़ मची हुई है। कहो लाहौर का क्या हाल है?'

चमनलाल लाहौर में नौकर था। उसी दिन अमृतसर आया था। पिता की बात सुनकर बोला—'वहाँ भी बड़ा जोश फैला हुआ है।'

लाला छज्जूमल ने कहा—'भई! हम तो सौ की एक बात जानते हैं, कि सरकार जो चाहे कर सकती है।'

'नहीं, यह न होगा। अब भारत पर जो शासन होगा, वह भारतवासियों की सम्मति से होगा, और उनके विचारों के अनुकूल होगा।'

'ऐसा भी कभी हो सकता है!'

'यही होगा और यही होना चाहिए।'

लाला छज्जूमल पुराने ढर्रे के आदमी थे, बेटे की बात से डर गये और सहमकर बोले—'यह बातें तू लाहौर से सीख आया है, कहीं कुछ और न कर बैठना।'

चमनलाल ने हँसकर उत्तर दिया—'और क्या कर बैठूँगा?'

'बाबा ! अपने घर की ओर देखो। अगर किसी ने पकड़ लिया तो हमारी तो कमर ही टूट जायेगी।'

'नहीं, ऐसा नहीं होगा। आप विश्वास रखें।'

'एक डाक्टर और बलिस्टर को पकड़कर ले गये हैं। राम जाने उन पर क्या बीती होगी ! अब लोग 'हू-हू' कर रहे हैं। हमारे घर की पिछली ओर जो बाबू रहता है, वह कहता था कि सरकार जबरदस्ती करेगी।'

'यह सरकार की भूल होगी।'

'अच्छा बेटा ! यह तो कहो, यह बात उठी कहाँ से है ?'

'उसी रौलट-ऐक्ट से।'

'वह जो कानून बना है, कि सिपाही जिसे चाहें पकड़ लेंगे और जब शादी-ब्याह होगा, तो टैक्स देना पड़ेगा ?'

चमनलाल हँसकर बोला—'यह आपसे किसने कहा है ?'

'सब यही कहते हैं। रामो का चाचा भी यही कहता था।'

'यह झूठ है, उस कानून का आशय शादियों पर टैक्स लगाना नहीं, देश की Political agitation को Crush करना है।'

लाला छज्जूमल इस अंगरेजी वाक्य से कुछ न समझ सके। बेटे के मुँह की ओर देखकर बोले—'यह तू गिट-पिट क्या कर गया ?'

चमनलाल ने लज्जित होकर उत्तर दिया—'जी ! मतलब यह है कि सरकार देश-सेवा का काम करनेवालों को गिरफ्तार करना चाहती है।'

'तू ऐसी बातों में न आना। पर हाँ, यह आदमी जो पकड़े गये हैं, बातें तो सब ठीक कहते थे।'

'यही तो मैं कह रहा हूँ, कि यह सब गवर्नमेंट की भूल है।'

इतने में कमरे के अन्दर से एक लड़की ने चमनलाल को इशारे से अपनी ओर बुलाया। यह उसकी स्त्री जानकी थी। चमनलाल उस पर प्राण देता था। बहाने से उठकर अन्दर चला गया। लाला छज्जूमल फिर हुक्का पीने लगे।

[२]

चमनलाल के अन्दर जाने पर जानकी ने पूछा—'क्या कर रहे थे ?'

'इधर-उधर की बातें।'

'मेरे लिए कोई अच्छी-सी पुस्तक लाये हो या नहीं ?'

'लाया हूँ।'

'दिखाओ तो !'

चमनलाल ने अपना बक्स खोलकर उसमें से एक सुन्दर पुस्तक निकाली और जानकी के हाथ में रख दी। जानकी ने उसका पहला पृष्ठ देखना आरम्भ किया। चमनलाल ने पूछा—'क्या नाम है ?'

जानकी ने अटक-अटककर पढ़ा—'सीता, सीता-राम, सीताराम ; क्या यह रामायण है ?'

'नहीं, रामायण नहीं, एक उपन्यास है। पढ़ लोगी ?'

'हाँ, पढ़ लूँगी।'

'मगर यदि ऐसी ही चाल से पढ़ोगी, जैसे पुस्तक का नाम पढ़ा है, तब तो पुस्तक समाप्त हो चुकी।'

जानकी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—'अब मैं तुम्हारी तरह पण्डित तो नहीं हो गई, कि फ़र-फ़र पढ़ती जाऊँ ; धीरे-धीरे पढ़ लूँगी।'

चमनलाल उसकी ओर देखकर मुस्कराया। जानकी ने कहा—'एक बात कहूँ ?'

'कहो।'

'अबकी मुझे भी लाहौर ले चलो। होटल की रोटियाँ खा-खाकर तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है।'

'ले चलूँगा। मेरा अपना भी यही विचार था। (मुस्कराकर) पहले इस काम से निबट लो। पर माजी तो कुछ न कहेंगी ?'

जानकी के बच्चा पैदा होनेवाला था, चमनलाल ने उसी ओर इशारा किया था।

जानकी ने झेंपकर उत्तर दिया:—

'नहीं, वह आप ही कहती थीं, कि अब तू लाहौर चलो जा। लड़का तंग होता होगा।'

'तो अब जाकर मकान का प्रबन्ध करके लिखूँगा। आ जाना।'

'मकान अधिक किरायेवाला न ले लेना।'

चमनलाल ने हँसकर उत्तर दिया—'अपनी पुस्तक पढ़ो, मैं जरा बाहर जाऊँगा।'

'बाहर कहाँ?'

'जलियाँवाले बाग।'

'वहाँ क्या है?'

'एक जलसा है।'

जानकी के चेहरे का रंग उड़ गया। घबराकर बोली—'वहाँ न जाओ।'

चमनलाल ने उसका हाथ थामकर उत्तर दिया—'क्यों? वहाँ क्या डर है?'

'आजकल बड़ी पकड़-धकड़ हो रही है। कहीं तुम भी न पकड़े जाओ।'

कैसा वचन था, प्रेम के रंग में रँगा हुआ! चमनलाल की नस-नस में आनन्द की लहर दौड़ गई, मुस्कराकर बोला—'नहीं, मैं कोई लेक्चर देने थोड़े ही जा रहा हूँ। ज़रा देखकर लौट आऊँगा।'

'पर न जाओ तो क्या हानि है?'

'हृदय नहीं मानता। यह जलसे ही तो वास्तव में देश को जगाते हैं।'

जानकी चुप हो गई। चमनलाल बाहर आकर पिता से बोला—'जरा बाहर जा रहा हूँ।'

'कहाँ, जलियाँवाला बाग में?'

'हाँ, वहीं।'

'वहाँ क्या है, कोई जलसा है?'

'जी हाँ! कोई डर की बात नहीं।'

छज्जूमल का कलेजा धड़कने लगा, घबराकर बोले—'न बेटा! वहाँ न जाना।'

चमनलाल ने उदास होकर पूछा—'वहाँ क्या है?'

'कुछ गड़बड़ हो जाये तो?'

'कुछ नहीं होगा।'

'यह तुम कह रहे हो। वहाँ परमात्मा जाने क्या हो जाय?'

'अच्छा! मैं जल्द लौट आऊँगा।'

छज्जूमल ने सिर खुजलाते-खुजलाते कहा—'न जाओ तो क्या हानि है? मुझे चिन्ता लगी रहेगी।'

परन्तु चमनलाल चला गया।

[३]

सन्ध्या का समय था, जानकी लाहौर जाने के विचारों में निमग्न थी। वह आज तक पति के पास न गई थी। वह जब अपनी सहेलियों से पति-पत्नी की प्रीति और प्यार की बातें सुनती तो उसका हृदय व्याकुल हो जाता था और वह अपनी बेबसी पर इस तरह तड़पती थी, जिस तरह पक्षी पिंजड़े में तड़पता है। चमनलाल प्रायः अमृतसर आता-जाता रहता था। मगर जानकी के लिए यह अवसर ऐसे हो थे, जैसे प्यासे के लिए ओस की बूँदें। इससे प्यास मिटने की बजाय उल्टी बढ़ जाती है। वह चमनलाल के भोलेपन पर प्रायः झुँझला उठती थी, कि वह क्यों उसे साथ नहीं ले जाता? मगर चमनलाल सदा टाल देता था, क्योंकि उसका वेतन थोड़ा था। परन्तु जब उसकी तरक्की हो गई, तो साहस बढ़ गया, और वह उसे लाहौर ले जाने को तैयार हो गया। जानकी का हृदय आनन्द से हिलोरें लेने लगा। मन में मनौतियाँ मानती थी, कि परमात्मा करे, कष्ट की घड़ियाँ कुशल से कट जायँ।

एकाएक गली में लोगों के दौड़ने की आवाज़ आई। जानकी का कलेजा धड़कने लगा, दौड़ी-दौड़ी सास के पास गई और बोली—'बाहर आदमी दौड़े जा रहे हैं, पता नहीं क्या हो रहा है!'

जानकी की सास आटा गूँध रही थी, पति को पुकारकर बोली—'बहू कहती है, गली में कुछ शोर हो रहा है। ज़रा पता लेना, क्या बात है?'

छज्जूमल ने बाहर जाकर देखा, लोग बेतरह भागे जा रहे थे। उन्होंने एक आदमी से पूछा—'बात क्या है?'

'गोली चल गई।'

छज्जूमल का कलेजा धड़कने लगा—'किस जगह ?'

'जलियाँवाला बाग में।'

छज्जूमल के अन्देशे पूरे हो गये। चमनलाल के ख़्याल से उनका हृदय काँपने लगा, शरीर में शक्ति न रही। घबराये हुए अन्दर गये और पत्नी से बोले—'अन्धेर हो गया, जलियाँवाले बाग में गोली चल गई। चमनलाल को रोका था, पर चला ही गया।'

जानकी को मानो, किसी ने नदी में ढकेल दिया। उसकी सास ने कहा—'हमारे भाग ! अब क्या होगा ? जाकर देखो। अजान लड़का है, कहीं...'

छज्जूमल के मुँह पर सफेदी छाई हुई थी। विपत्ति का ज्ञान विपत्ति से अधिक भयानक होता है। आँसू भरकर बोले—'कहाँ जाऊँ ? मेरे तो तन में खड़े होने की भी शक्ति नहीं रही।'

जानकी की आँखों में आँसू थे, हृदय में धड़कन। घूँघट के अन्दर से रोती हुई सास से बोली—'जल्द भेजो।'

छज्जूमल खड़े हो गये, परन्तु उनकी सारी देह गिरती हुई दीवार की तरह काँप रही थी। वे काँपते हुए बाहर निकले, और जलियाँवाला बाग की ओर चले। रास्ते में हज़ारों आदमी भागते हुए आ रहे थे, और सब-के-सब सहमे हुए थे। उनके चेहरों पर हल्दी छा गई थी, नेत्रों में भय। उनमें से प्रत्येक की यही इच्छा थी, कि जल्द-से-जल्द अपने घर पहुँच जाय। यह देखकर छज्जूमल और भी घबरा गये। अब उनको ज्ञात हुआ कि, परिस्थिति जितनी बुरी समझी थी, उससे भी अधिक बुरी है। उनके व्याकुल नेत्र चमनलाल को ढूँढ़ रहे थे। इतने में देखा, वह भागता हुआ आ रहा है। छज्जूमल दौड़कर आगे बढ़े। मगर दूसरे ही क्षण सन्नाटे में आ गये। जिस तरह उड़ते हुए पक्षी को गोली मार दी जाय तो उसके पर खुले रह जाते हैं, वही अवस्था छज्जूमल की हुई। हृदय की शङ्काओं ने निश्चय का रूप धारण कर लिया था। चमनलाल की बाँह से लोहू बह रहा था। वह घायल हो चुका था।

छज्जूमल को देखकर चमनलाल ने करुणामयी दृष्टि में अपनी भूल को स्वीकार

किया और उनके पाँव में गिरकर मूर्छित हो गया। छज्जूमल की आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। उसने सहायता के लिए बहुत चीख पुकार की, परंतु सबको अपनी-अपनी पड़ी थी, किसी ने ध्यान न दिया। हज़ारों आदमी भागे जा रहे थे। हर एक को अपने प्राणों की चिन्ता थी। बूढ़े छज्जूमल के रोने-चिल्लाने पर किसी ने ध्यान न दिया, उलटा एक-दो बेपरवा आदमियों के पाँवों से चमनलाल के मूर्छित शरीर को ठोकर लग गई। छज्जूमल यह सहन न कर सके। क्रोध से दाँत पीसकर खड़े हो गये, और अपने हाथ फैलाकर चमनलाल के शरीर की रक्षा करने लगे। ममता की मारी मुर्गी अपने घायल बच्चे को अपने परों में छुपा रही थी।

कुछ देर बाद लोगों की भगदड़ हल्की हुई, छज्जूमल के तन में प्राण आये। चारों ओर देखने लगे कि शायद कोई अपना दिखाई दे। मगर वहाँ अपना कोई भी न था। अधीर होकर रोने लगे।

[४]

रात हो गई थी। छज्जूमल अपने मकान में चमनलाल के सिरहाने बैठे थे और बार-बार उसके चेहरे की ओर देखते थे। चारपाई की दूसरी ओर उनकी स्त्री बैठी रो रही थी। जानकी ज्ञानशून्य होकर एक कोने में चुपचाप बैठी थी। उसके नेत्रों में आँसू न थे। दुःख की ज्वाला ने अश्रु-स्रोत को जला डाला था। उसके हृदय पर आतंक छा रहा था, सोचती थी। क्या सोचा था, क्या हो गया?

इतने में चमनलाल ने करवट बदली, और आँखें खोल दीं। छज्जूमल और उनकी स्त्री की बाछें खिल गईं। प्रसन्न होकर बोले—'चमन!'

चमन ने कराहकर उत्तर दिया—'दर्द होता है।'

प्रफुल्लित हृदय पर दुःख का धुआँ छा गया। चमनलाल की मा ने प्यार से पूछा—'बेटा, कहाँ?'

'कंधे पर बड़ी सख्त जलन होती है।'

छज्जूमल ने स्त्री से कहा—'ज़रा देख तो, पानी की पट्टी घाव से खिसक तो नहीं गई?'

चमनलाल की मा ने कहा—'मुझे पता नहीं लगेगा। बेटी जानकी! तू आकर देख।'

जानकी घूँघट निकालकर आगे बढ़ी और पति के कंधे की पट्टी ठीक करके पीछे हट गई।

• चमनलाल ने फिर कराहकर कहा—'कोई डाक्टर बुला लो, मुझे गोली लगी है।'

छज्जूमल ने कांपते-कांपते उत्तर दिया—बेटा! इस समय कोई बाहर नहीं निकल सकता। डाक्टर तो प्रातःकाल ही आ सकेगा।'

छज्जूमल की स्त्री ने कहा—'तो क्या अब बाज़ार सब बन्द हो गये हैं?'

'हाँ, चमन की मा! इस समय कोई घर से बाहर नहीं निकल सकता।'

इस उत्तर ने जानकी के हृदय पर अंगारे से रख दिये, जोश से खड़ी हो गई, और सास के निकट आकर उसके कान में बोली—'मैं जाऊँ! गली के सिरे पर ही डाक्टर की दुकान है।'

छज्जूमल ने पूछा—'जानकी क्या कहती है?'

'कहती है, कहो तो मैं डाक्टर को बुला लाऊँ! इस बाज़ार के सिरे पर ही दुकान है।'

छज्जूमल का मुँह लाल हो गया। जानकी के इन शब्दों का अर्थ इसके सिवा और क्या हो सकता था, कि तुम्हें इनका जीवन प्यारा नहीं, मुझे तो है, परन्तु सभलकर बोले—'बेटी! इस समय बाहर निकलने की मनाही है। जो निकलेगा, उसे सिपाही पकड़ लेंगे।'

जानकी चुप होकर बैठ गई।

[५]

सवेरा हुआ तो छज्जूमल डाक्टर लेने चले। परन्तु थोड़ी ही दूर गये होंगे, कि एक सिपाही ने डपटकर कहा—'ओ बुड्ढे!'

जो दशा बकरी की शेर को देखकर होती है, वही दशा छज्जूमल की सिपाही को देखकर हुई। कांपते हुए बोले—'जी!'

'तुम्हारा नाम क्या है ?'

'छज्जूमल'

'छज्जूमल वल्द कन्हैयालाल ?'

'जी नहीं ! छज्जूमल वल्द बरकतराम ।'

सिपाही ने उसे घूरकर देखा, मानो खा ही जायगा, और क्रोध से बोला—'मेरे साथ चलो ! तुम्हारे नाम वारण्ट निकले हुए हैं । इस समय वल्दियत की भूल हो जाना साधारण बात है ।'

छज्जूमल के चेहरे का रंग बदल गया । हाथ जोड़कर बोले—'मैंने क्या किया है ? मैं तो किसी बात में नहीं हूँ ।'

सिपाही ने क्रोध भरी आँखों से देखकर उत्तर दिया—'यह देखा जायेगा ।'

छज्जूमल ने उसके पैरों पर सिर रखकर कहा—'मेरी एक बिनती है ।'

'मैं इस समय कुछ नहीं सुन सकता ।'

'मेरा एक ही पुत्र है, वह घर में दर्द से कराह रहा है । डाक्टर लेने निकला था । अगर दो-चार मिनट की छुट्टी हो तो फिर जहाँ कहें, हाज़िर हो जाऊँगा ।'

पुलीस के आदमी ने चिढ़ानेवाली हँसी से उत्तर दिया—'मालूम होता है, तुम मुझे बेवकूफ़ समझते हो !'

छज्जूमल की आँखों में आँसू भर आये, नम्रता से बोले—'मैं सच कहता हूँ, मेरी नीयत भागने की नहीं । अपना आदमी मेरे साथ कर दीजिए । मेरा लड़का बहुत कष्ट में है, डाक्टर न पहुँचा, तो वह मर जायगा । परमात्मा के लिए मुझ बुड्ढे पर दया करें । यह उपकार आयु भर न भूलूँगा ।'

'भाई ! यह नहीं हो सकता ।'

'मैं हरगिज़ न भागूँगा ।'

'तुम नवाब नहीं हो, कि तुम्हारे साथ आदमी दौड़ता फिरे । गिरफ्तारियों से इस समय फुरसत किसे है ?'

छज्जूमल ने बहुतेरा यत्न किया, मगर सिपाही ने एक न सुनी । उसका हृदय पत्थर का बना हुआ था । किसी और वस्तु का होता तो पिघलकर पानी हो जाता ।

विवश होकर छज्जूमल को थाने की ओर चलना पड़ा, जैसे बकरी को अपनी इच्छा के विरुद्ध कसाई के साथ जाना पड़ता है।

छज्जूमल सोचते थे, हम लोग कैसे बेबस हैं? बिना अपराध के गिरफ्तार हो जाते हैं और कोई फ़रियाद तक नहीं सुनता। लड़का घर में तड़प रहा है। मैं डाक्टर बुलाने आया था। परन्तु स्वयं विपत्ति में फँस गया। यदि मैं इस समय घर न पहुँचा तो···इस विचार से उनका कलेजा हिल गया। इतने में वे थाने में पहुँच गये। सिपाही ने एक अगरेज अफसर से कहा—

'जिनकी गिरफ्तारी की लिस्ट बनाई गई है, उसमें इस शख्स का नाम भी शामिल है।'

अगरेज अफ़सर ने सिगार का कश लगाकर पूछा—'क्या नाम हाय!'

'छज्जूमल।'

अंगरेज अफ़सर ने लिस्ट पर एक दृष्टि दौड़ाई, और कहा—'अन्दर ले जाओ।'

छज्जूमल ने बड़ी अधीरता से कहा—'साहब, हजूर··'

'ले जाओ। हम कुछ नहीं सुनटा। यह लोग पहले हरटाल करटा, फसड करटा, फिर माफियाँ माँगने सकटा, हम ऐसे लोग को गोली मार डेगा।'

छज्जूमल का धीरज छूट गया। यहीं पर उन्हें आशा थी कि कुछ सुनी जायगी। परन्तु आशा का टिमटिमाता हुआ दीपक निराशा के झोंके ने बुझा दिया। छज्जूमल की आँखों के सम्मुख अँधेरा छा गया। क्या अब उनका पुत्र बच सकेगा?

[६]

जब राह देखते-देखते रात हो गई, और छज्जूमल डाक्टर लेकर न लौटे, तो जानकी और उसकी सास दोनों घबरा गईं। इस समय उन दोनों स्त्रियों की दशा चिड़िया के उन बच्चों के समान थी, जिनके लिए पक्षी चारा लेने गया हो, और स्वयं शिकारी के जाल में फँस चुका हो। गड़बड़ के दिन थे, भय का साम्राज्य, चारों ओर आतङ्क छा रहा था। ऐसे समय में कौन किसी की सुनता है। इस पर क्षण-क्षण में गिरफ्तारियों के समाचार लहू को सुखा देनेवाले थे। चमनलाल जलन से कराह रहा था, यह देखकर सास-बहू दोनों चीखें मारती थीं, और बार-बार

दरवाज़े की ओर देखती थीं, मगर कोई आता न था। इसी प्रकार सारा दिन बीत गया।

सायंकाल होते ही जानकी की घबराहट और भी बढ़ गई। उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं। उसकी सास ने देखा तो उसे सन्देह-सा हुआ। पुकार कर बोली—'क्यों बेटी! क्या बात है?'

जानकी को प्रसव-पीड़ा हो रही थी, परन्तु उसने सास को बतलाना निर्लज्जता समझी। पीड़ा की लहर को अन्दर दबाकर जानकी ने उत्तर दिया—'कुछ नहीं।'

मगर थोड़ी देर बाद यह पीड़ा असह्य हो उठी। जब बत्ती जली, तो जानकी का अंग-अंग दुखने लगा। वह उठकर अन्दर चली गई। सास ने देखा, जानकी पृथ्वी पर तड़प रही है। विपत्ति पर विपत्ति टूटी। गरीब बुढ़िया की अब कौन सुध लेगा। उसका शरीर निढाल हो गया, आँखों में आँसू आ गये। यही घड़ी थी, जिसके लिए वह मनौतियाँ मान रही थी। यही समय था, जिसके लिए उसकी जान तड़पती थी, परन्तु यह आनन्द का अवसर बेबसी के समय में आया। श्मशान में जिस तरह चन्द्रमा की चाँदनी दृश्य को अधिक शोकमय बना देती है, उसी तरह सहम और मृत्यु के समय को इस आनन्द के अवसर ने अधिक दुःखदायी बना दिया। जानकी की सास ने कहा—'क्यों बेटी!'

जानकी ने कराहकर उत्तर दिया—'धाई बुलवा लो।'

जानकी की सास पर मानो पहाड़ टूट पड़ा। एक ओर लड़का मरता था, दूसरी ओर बहू। वह बुड्ढी तो थी, मगर उसे इन बातों का अनुभव न था। सोचने लगी, क्या करूँ? जिस प्रकार डूबता हुआ आदमी बार-बार यही आशा करता है कि कदाचित् कोई सहायता पहुँच जाय और इस आशा ही में जल की भयानक तरंगों में हाथ-पाँव मारता रहता है, उसी प्रकार वह बार-बार दरवाजे की ओर देखती थी कि कदाचित् स्वामी आ रहे हों। परन्तु वह तो हवालात में बन्द थे। आता कौन?

इसी ऊब-डूब में कुछ घण्टे बीत गये, मगर छज्जूमल न आये। जानकी का कष्ट और चमनलाल की पीड़ा और भी बढ़ गई। बेचारी बूढ़ी घबराई हुई फिरती थी। आखिर में उसने पड़ोस की एक लड़की को बुलाकर पास बैठाया। चमनलाल को उसके

पति के सुपुर्द किया और आप धाई को बुलाने निकली। परन्तु रात के एक बजे तक टक्करें मारने पर भी किसी धाई ने आना स्वीकार न किया। फ़ौजी लोग नगर में घूम रहे थे, अपनी जान और आन को कौन खतरे में डालता। इस समय उस पर विपत्ति आई थी। उसके हृदय में भय न था, किसी प्रकार बेटा और बहू बच जाय, यही एक विचार था। परन्तु प्रारब्ध खड़ा हँस रहा था, कि तू सोचती क्या है?

प्रातःकाल हो चुका था। छज्जूमल दौड़ते हुए घर को जा रहे थे। उन्हें साहब ने छोड़ दिया था, क्योंकि उन्हें पकड़ने में भूल हो गई थी। वे पागलों की नाईं दौड़कर घर पहुँचना चाहते थे। मगर ज्यों-ज्यों घर के निकट पहुँचते जाते थे, हृदय बैठता जाता था। यहाँ तक कि गली के नाके पर पहुँचकर उनके कदम एकदम सुस्त हो गये। फिर भी निर्बल विद्यार्थी की तरह साहस करके आगे बढ़े, पर घर के सामने पहुँचकर उनका रक्त ठण्डा हो गया। उनकी स्त्री बैन कर रही थी। हृदय की आशंकाएँ पूरी हो गईं। चमनलाल मर चुका था। उसके लिए डाक्टर भी न आ सका। छज्जूमल ने एक ठण्डी साँस भरी और मूर्छित होकर गिर पड़े। चारों ओर हाहाकार होने लगा। बूढ़ी ने और भी ज़ोर-ज़ोर से रोना आरंभ किया। छज्जूमल को कुछ देर बाद सुध आई, तो दृष्टि दूसरी अर्थी पर गई। चिल्लाकर बोले—'यह क्या हुआ?'

उनकी स्त्री ने अपनी छाती पीटकर और सिर के बाल नोचकर उत्तर दिया—'जानकी भी मर गई। एक ही दिन में हमारा घर उजड़ गया।'

छज्जूमल के कलेजे पर दूसरी गोली लगी। हृदय को थामकर बैठ गये, और पागलों की भाँति बोले—वाह परमात्मा, तेरे रंग!'

चमनलाल जानकी को छोड़कर जाना चाहते थे। मगर उस सती ने साथ न छोड़ा। पति-पत्नी को एक ही चिता पर जलाया गया।

अँधेरे में

[१]

लाला भगतराम दफ़्तर से लौटे तो चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। स्त्री के पास जाकर बोले—'दफ़्तर टूट गया।'

मोहिनी के सिर पर पहाड़ गिर पड़ा। कलेजा थामकर रह गई, और भर्राये हुए स्वर में कहने लगी—'क्या सरकार तुम्हारा भी ख़्याल न करेगी?'

भगतराम ने कोट का बटन दबाते हुए उत्तर दिया—'आशा तो नहीं।'

'तो कैसे बनेगा?'

'दफ़्तर के बाबू एक अरज़ी तैयार कर रहे हैं, कि हमारी Service युद्ध की है, हमारे लिए गवर्नमेंट कुछ प्रबन्ध करे। परन्तु आशा नहीं कि इसका कुछ फल निकले।'

मोहिनी ने चिंतित-सी होकर उँगली ठोढ़ी पर रखी और कहा—'चार दिन सुख से बीते थे, परन्तु जान पड़ता है, फिर वही साढ़े साती आने को है। कबसे जवाब मिला?'

'अगले महीने से, आज दफ़्तर में नोटिस लग गया है।'

'तो कुछ यत्न करो, कोई जगह मिल जायगी।'

'इसके सिवाय और उपाय ही क्या है?'

भगतराम ने कोट उतारकर दीवार पर लटका दिया और चारपाई के एक सिरे पर बैठ गये, मानो परदेशी हों। इस समय उनके हृदय में अनेक प्रकार की विचार-तरंगे उठ रही थीं। मोहिनी ने तवे पर रोटी डालकर कहा—'हाथ धोये या नहीं ! थाली ले लो, और बैठकर खाना खाओ।'

• भगतराम गहरी चिन्ता में डूब रहे थे। उनका मन इस समय बहुत भारी हो रहा था। उनको अपना भविष्य अंधकार-पूर्ण दिखाई दे रहा था। यही नौकरी थी जिस पर उनको बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उनका विचार था और सारे दफ़्तर को निश्चय था कि दो मास के अन्दर-अन्दर उनका वेतन डेढ़ सौ हो जायगा। यह विचार उनकी आशाओं का केन्द्र था। मगर यह पता न था, कि आशा-किरण इतनी जल्दी दृष्टि से ओझल हो जायगी और चारों ओर अन्धकार फैल जायगा। उन्होंने ठण्डी साँस भरकर कहा—'आज तो जी नहीं चाहता।'

मोहिनी को पति के साथ असीम प्रेम था। वह उन्हें उदास देखकर व्याकुल हो जाती थी। वह सब कुछ सह सकती थी, परन्तु पति का उदास चेहरा देखकर उसका धीरज हाथ से जाता रहता था। जितना दुःख उनकी नौकरी के छूट जाने से हुआ था, उससे अधिक दुःख इस उत्तर से हुआ। वह उठकर पति के पास आ गई, और प्यार से बोली—'क्या सोचते हो ? जिसने पैदा किया है, वह खाने को भी देगा। चिन्ता करने से क्या होगा ? बीमार हो जाओगे।'

भगतराम की आवाज़ भारी हो गई। बोले—'मोहिनी ! तुमसे क्या कहूँ ? मेरा चित्त बहुत खराब हो रहा है। परमात्मा जाने, प्रारब्ध में क्या लिखा है ? जी चाहता है, ज़हर खा लूँ।'

'क्या कह रहे हो ? कैसे अशुभ वचन मुँह से निकालते हो ?'

'तो, बताओ ! अब क्या होगा ? किसी के पास सम्पत्ति होती है, किसी के पास पैसा। हमारे पास कुछ भी नहीं। न ऐसा कोई संबन्धी है, जिस पर कुछ भरोसा हो। मुझे तो कुछ समझ नहीं आता कि अब क्या होगा ?'

मोहनी के हृदय में इस समय बहुत दुःख भरा हुआ था, मगर पति को दुखी देखकर वह अपना दुःख भूल गई और झूठी हँसी हँसकर बोली—'परमात्मा कुछ-न-

कुछ प्रबन्ध कर देगा। उठो, खाना खा लो। खाना न खाने से तो और बीमार हो जाओगे।'

भगतराम अब नहीं न कर सके, ज्यों-त्यों खाना खाने लगे।

[२]

चार महीने बीत गये। भगतराम को कोई नौकरी न मिली, दिन-रात उदास रहने लगे। नौकरी के दिनों में हर हफ़्ते एक-आध बार सिनेमा देखने जाते थे, महीने में एक बार नाटक देखते थे। इन्हें वे जीवन के भोग-विलास कहा करते थे। मगर अब इन रंग-रलियों की ओर ज़रा भी ध्यान न था। उस समय समाचार-पत्रों का पढ़ना उनके लिए जी बहलाने की विशेष सामग्री थी। उसके बिना उनकी रोटी न पचती थी। परन्तु अब समाचार-पत्र का मुंह देखे बिना महीनों निकल जाते थे, और जब कभी देखते, 'आवश्यकता' के कालम को पढ़कर छोड़ देते। बैठे-बैठे अपना मुँह छुपाकर रोने लगते। उनको जहाँ-जहाँ पता लगा, वे वहाँ-वहाँ पहुँचे। परन्तु उनका दुर्भाग्य उनसे पहले पहुँच जाता था। किसी जगह नौकरी न मिली।

इसी तरह चार महीने गुज़र गये। मोहिनी के पास कानों के बुन्दे थे, हाथों की हल्की-सी चूड़ियाँ। इसके अतिरिक्त उसके पास और कोई आभूषण न था। यह आभूषण भगतराम ने बड़े चाव से मँगवाये थे। इस चार मास की बेकारी में सब बिक गये। परन्तु मोहिनी के मुख पर दुःख और चिन्ता की रेखा न थी। वह प्रायः कहा करती, मेरे मन को तो गहने भाते ही नहीं। भगतराम यह सुनते तो उनके कलेजे में तीर-सा चुभ जाता और दुःख पानी बनकर नेत्रों के रास्ते बह निकलता।

एक दिन भगतराम फूले-फूले घर आये। भूमि पर पाँव न टिकते थे। आते ही बोले—'मोहिनी!'

मोहिनी का हृदय-कमल खिल गया, समझ गई, कि उन्हें नौकरी मिल गई है। हँसकर बोली—'मुझे मालूम हो गया, नौकरी मिल गई है?

'हाँ!'

'वेतन क्या है?'

'डेढ़ सौ!'

मोहिनी के हृदय में सहसा एक शंका उठी। उसने अपनी दृष्टि पति के मुख पर जमाकर पूछा—'कहाँ ?'

भगतराम ने ज़रा रुककर उत्तर दिया—'मैसोपोटामियाँ में।'

मोहिनी की आई हुई प्रसन्नता वापस चली गई, घबराकर बोली—'मुझे भी साथ ले जाओगे ?'

'नहीं।'

'तो फिर मैं यह नौकरी न करने दूँगी।'

भगतराम ने प्यार से कहा—'भूखों मरना स्वीकार करोगी, मगर कुछ दिन का वियोग न सह सकोगी ?'

'यह मुश्किल है। मैं यहाँ अकेली नहीं रहूँगी।'

भगतराम को इस उत्तर पर क्रोध आ गया, परन्तु दबाकर बोले—रोज़ी के लिए सभी कुछ करना पड़ता है। केवल तीन वर्ष की बात है।'

'मैं तीन दिन के लिए भी नहीं रह सकती, इनकार कर दो।'

'मूर्ख हो, ऐसा अवसर फिर हाथ नहीं आयेगा।'

'न सही।'

'तो फिर खायेंगे कहाँ से ?'

'परमात्मा कोई और प्रबन्ध कर देगा।'

भगतराम क्रुद्ध-से होकर बोले—'कर देगा। घर बैठे राज करना जानती हो। मेरी तरह दफ़्तरों के धक्के खाने पड़ें तो होश आ जायें।'

'मगर मैं यहाँ अकेली नहीं रहूँगी। यहाँ पचास-साठ की मिल जाये वही बहुत है।'

भगतराम ने क्रोध से काँपते हुए कहा—'और अगर मैं मर जाऊँ तो...।'

मोहिनी के मुँह का रंग बदल गया। भगतराम को जब मोहिनी को कठोरतर दण्ड देना होता था तो वह अपने आपको गाली दिया करते थे। इससे मोहिनी के कलेजे पर छुरियाँ चल जाती थीं। मोहिनी के माता-पिता जब दोनों एक सप्ताह के अन्दर इंफ़्लुएंजा से मरे थे, उस समय मोहिनी ने भगतराम से प्रतीज्ञा कराई थी

कि मैं कभी इस तरह अपने आपको गाली न दिया करूँगा। यह प्रतिज्ञा उन्होंने दो-डेढ़ वर्ष तक निभाई। परन्तु इस समय क्रोध के वश में फिर वही शब्द मुँह से निकल गये। मोहिनी की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उसने क्रोध से उत्तर दिया—'तुमने मुझे सुहाग की गाली दी है!'

'हाँ दी है। जो कुछ करना हो कर लो।'

मोहिनी वृक्ष की टूटी हुई शाखा की नाईं चारपाई, पर गिर गई और सिसकियाँ भर-भरकर रोने लगी। भगतराम ने इसकी परवा न की और बाहर निकल गये। थोड़ी देर बाद उनका क्रोध उतर गया, जिस तरह लोहे का गोला अग्नि से निकलकर धीरे-धीरे ठण्डा हो जाता है। सोचा, मैंने ऐसी बात कहकर उचित नहीं किया। भूल मेरी है। रुपया कमाना आवश्यक है, परन्तु वह किसके पास रहे! माता पिता मर चुके हैं, सास-ससुर हैं नहीं। बेचारी का एक भाई है वह बात तक नहीं पूछता। इसका संसार एकमात्र मेरे ही साथ है। अपनी अवस्था देखकर यदि उसने कह दिया, कि मैं अकेली नहीं रहूँगी, तो उसका क्या दोष है? दोष मेरा है, जिसने बिना सोचे-समझे ऐसी नौकरी मंजूर कर ली। लोगों की स्त्रियाँ पतियों का लहू चूस लेती हैं, परन्तु मोहिनी प्रेम की पुतली है। मुझे उदास देखकर उसका रंग बदल जाता है। वह भूखी रह सकती है, बीमारी सह सकती है, परन्तु मुझे व्याकुल देखकर उसका धीरज टूट जाता है। यह सोचकर भगतराम लज्जित हो गये और सहमे हुए अपराधी बच्चे के समान घर की ओर रवाना हुए।

समुद्र पार जाने का विचार रह गया।

[३]

देश में असहयोग की पुकार उठी तो नगर-नगर में जलसे होने लगे। भगतराम बेकार थे; इस क्षेत्र में चले आये। अगर वे नौकरी पर होते तो इस ओर कदाचित् ध्यान न देते, और यदि देते भी तो बहुत ही साधारण रूप से। परन्तु बेकारी ने इनका सारा समय इधर लगा दिया। वे दिन-रात देश-सेवा के काम में मग्न रहने लगे। कुछ ही दिनों में यह हाल हुआ कि शहर के बच्चे-बच्चे के मुख पर उनका नाम था। मोहिनी यह देखती तो गद्‌गद हो उठती। वह अपने मन में कहती थी,

गरीब हैं तो क्या हुआ ! लोग उनको देखकर आनन्द से झूमने तो लग जाते हैं। मनुष्य आते हैं, चले जाते हैं, जीना उन्हीं का है, जो संसार में कुछ पुण्यकर्म कर जायें। भगतराम स्त्री की यह बातें सुनते, तो फूले न समाते और कहते—'मोहिनी ! मुझे तुझ पर गर्व है।'

परन्तु ऐसा करते हुए भी खर्च की तंगी दम न लेने देती थी।

[४]

तीसरे प्रहर का समय था। दोनों बैठे हिसाब कर रहे थे। निर्धन लोगों का यही मनबहलाव है। भगतराम ने पूछा—'अब और कितने रुपये बाकी हैं ?'

'मोहिनी ने रूमाल खोलकर नोट और रेजकी को गिना और कहा—'तैंतीस रुपये सवा सात आने।'

'बस ?'

'इसके सिवा एक पैसा भी नहीं।'

'अब खर्च गिनो।'

मोहिनी ने कुछ सोचकर कहा—'पन्द्रह रुपये दो आने मकान का किराया, नौ रुपये छः आने हलवाई का हिसाब।'

'साढ़े चौबीस रुपये !'

'बजाज से कपड़ा मँगवाया था, उसके दस रुपये देने हैं।'

'साढ़े चौंतीस तो यही हो गये। सारा महीना सिर पर खड़ा है। लकड़ियाँ, आटा, घी, चने दाल सब कुछ लाना होगा।'

'क्या कहूँ, दो गहने थे वे भी बिक गये।'

'अच्छा एक काम करो।'

'क्या ?'

'किराया इस महीने न दो, अगले महीने परमात्मा कोई उपाय कर देगा।'

'बात तो ठीक है। परन्तु मालिक-मकान आकर जब दरवाज़े पर खड़ा हो जाता है, तो मेरा कलेजा काँप उठता है।'

इतने में नीचे से किसी ने पुकारा—'लाला भगतरामजी !'

'आया।'

मोहिनी ने पूछा—'कौन है?'

'वही मालिक-मकान। लाओ किराया दे दो। उसके साथ बात करने का मुझमें साहस नहीं।'

मोहिनी ने पन्द्रह रुपये दो आने उठाकर दे दिये। भगतराम नीचे चले गये और रुपये मालिक-मकान को दे दिये। परन्तु अभी स्टाम्प के पीछे लिख ही रहे थे, कि हलवाई ने आकर राम-राम कहा। यह राम-राम बन्दूक की गोली से कम न था। भगतराम का लहू सूख गया, बोले—'क्यों, रुपये चाहिए?'

'हाँ, बाबू साहब! आज दस तारीख हो गई।'

भगतराम ने ऊपर आकर स्त्री से कहा—'दूसरा यमदूत भी आ गया है।'

'कौन, हलवाई?'

'हाँ, नीचे खड़ा है। लाओ उसके नौ रुपये छः आने भी दे दो।'

मोहिनी ने बेबसी से वह भी दे दिये। हलवाई सन्तुष्ट होकर चला गया। हिसाब फिर होने लगा। भगतराम ने आगामी मास के लिए दूध, खांड, बूट का पालिश, सिर का तेल सब उड़ा दिया, फिर भी चालीस रुपये की और आवश्यकता थी। यह कहाँ से आयेंगे। पति-पत्नी दोनों बहुत देर तक सोचते रहे, परन्तु कोई उपाय न सूझा; जैसे अँधेरे में रास्ता नहीं मिलता। भगतराम ने पत्नी से कहा—'अच्छा लाओ, आटा तो ले आऊँ, बाकी वस्तुओं का प्रबन्ध भी हो जायगा।'

अँधेरा हो गया था, मोहिनी ने लालटेन जलाई और एक टीन और चार रुपये पति को दे दिये। भगतराम बाहर निकले और बनिये की दूकान पर पहुँचे। परन्तु अभी आटा तौला ही जा रहा था, कि बजाज का लड़का सामने से गुज़रता दिखाई दिया। रही-सही कसर भी पूरी हो गई, भगतराम ने मुँह फेर लिया। परन्तु बजाज का लड़का उन्हें देख चुका था, पास आकर बोला—'ड़ाम-ड़ाम लालाजी!'

खास लाहौर के लोग 'र' को 'ड़' बोलते हैं।

भगतराम ने लज्जित-सा होकर उत्तर दिया—'राम-राम महाराजजी।'

'रुपया नहीं आया।'

'आ जायगा।'

'महाराज ! यह ठीक नहीं, तीन महीने हो गये हैं। इस तरह दूकान का काम नहीं चलता।'

भगतराम ने पीछा छुड़ाने के विचार से कहा—'फ़िक्र न करो। परसों मैं आप ही पहुँचा दूँगा।'

'ख्याल रखना महाराज ! ज्यादा कहने को जी नहीं चाहता।'

भगतराम को चारों ओर अन्धकार दिखाई दिया। उन्होंने सोचा था कि बनिये से आटा उधार ले आयेंगे। पर अब साहस न हुआ। चुपचाप रुपये देकर आटा ले आये। सुना था; कष्ट जब आते हैं, इकट्ठे होकर आते हैं। अब प्रत्यक्ष देख लिया।

[५]

रात आधी जा चुकी थी, मगर भगतराम के नेत्रों में नींद न थी। वे बारंबार सोचते थे कि अब क्या होगा ? खर्च के लिए पास पैसा नहीं, नौकरी कोई मिलती नहीं, निर्वाह कैसे होगा ? दूध बन्द कर दिया, निर्वाह हो सकता है। तेल सिर पर न मला, निर्वाह हो सकता है। मगर आटे और दाल के बिना तो एक दिन भी कटना कठिन है। उनको अपने घर पर एक भयानक भविष्य पर फैलाये हुए दिखाई दिया। सारी रात करवटें लेते काट दी। प्रातःकाल हुआ तो मोहिनी की पलकें भी भारी हो रही थीं। रातभर वह भी जागती रही थी। परन्तु उसने यह बात प्रकट नहीं की थी। यह स्त्री का स्वभाव है। वह कष्ट सहती है, उसे प्रकट नहीं करती। वह इसे स्त्रीत्व से गिरा हुआ समझती है।

मोहिनी अपने घर के काम में लगी हुई थी, भगतराम अपने भविष्य की सोच रहे थे। इतने में डाकिये ने आवाज़ दी—'चिट्ठी ले जाओ।'

भगतराम नीचे जाकर चिट्ठी ले आये और चारपाई पर बैठकर पढ़ने लगे। जब पढ़ चुके तो चकित-से रह गये, मानो कोई गोरखधंधा हो, जो उनके खोले न खुलता हो।

मोहिनी ने पूछा—'क्या है ?'

'सरकारी चिट्ठी है।'

'क्या लिखा है ?'

'जब दफ़्तर टूटा था, तो दफ़्तर की ओर से एक सर्क्यूलर निकला था कि हमारे आदमी, यदि कहीं आवश्यकता हुई तो ले लिये जायँगे। उसी के उत्तर में एक जगह से मेरी माँग आई है। ८५) रुपया वेतन है।'

भगतराम को इससे ज़रा भी प्रसन्नता नहीं हुई। उनका अन्तःकरण कह रहा था कि इस समय जब कि देश में असहयोग का आन्दोलन चल रहा है, सरकारी नौकरी करना जातीय पाप है। इतना ही नहीं, वे इस पर एकाध बार भाषण भी दे चुके थे। अब किस मुँह से नौकरी करेंगे। फिर भी उनको यह आशा अवश्य थी कि मोहिनी यह समाचार सुनकर उछल पड़ेगी। उसके मुख पर आनन्द की लाली छा जायगी। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मोहिनी जहाँ खड़ी थी वहीं खड़ी रह गई। कुछ देर चुप रहकर बोली—'कर लोगे ?'

भगतराम ने पूछा—'तुम्हारी क्या राय है ?'

'मेरी तो यह राय है—'ना' कर दो।'

भगतराम की नस-नस में आनन्द की लहर दौड़ गई। मोहिनी का हृदय इतना ऊँचा है, इतना देश-प्रेम से भरा है कि भयानक दारिद्रय के थपेड़ों में भी इस प्रकार अचल, अटल और अडोल रह सकेगी, उन्हें इसकी आशा न थी। वह इस समय तक इतना ही जानते थे कि वह एक अत्यन्त सती-साध्वी और प्रेम की पुतली पत्नी है, परन्तु देश-भक्ति का भाव उस पर इतना काम कर चुका है, इसकी उन्हें कल्पना तक न थी। उन्होंने उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखकर कहा—'मोहिनी ! तुमने आज मेरी आँखों से पर्दा हटा दिया है।'

'तो यह नौकरी न करोगे ?''

'नहीं।'

मोहिनी आगे बढ़कर भगतराम के पैरों से लिपट गई, और आँखों के जल से उनके पाँव पखारने लगी।

भगतरात ने नौकरी करना अस्वीकार कर दिया। यह बलिदान कितना ऊँचा, कितना महान है। लोग प्रशंसा और नाम के लिए सिर कटवाते देखे गये हैं। वाह-

वाह के लिए धन-दौलत लुटाते सुने गये हैं। उनके बलिदान पतंगों के बलिदान के समान हैं, जो प्रकाश में सबके सामने जलते हैं। लोग देखते हैं, वाह-वाह करते हैं, कवि उनकी प्रशंसा के गीत लिखते हैं। परन्तु यह बलिदान अंधकार में हुआ, किसी कान ने नहीं सुना, किसी आँख ने नहीं देखा, किसी कवि ने वाह-वाह के शब्द नहीं कहे। यह बलिदान अनाज के दाने का बलिदान है जो अंधकार में पृथ्वी के अन्दर धँस जाता है और अपने आपको मेटकर अपने जैसे बीसों दाने उत्पन्न कर देता है।

कैदी

यह सज़ा की पहली रात थी। अब्दुल वहीद सो न सके। सारी रात जागते हुए गुज़ार दी।

वह एक धनाढ्य परिवार के लाल थे। उनको खाने-पीने की परवा न थी। कई मकान थे, कई दुकानें, बंकों में रुपया भी जमा था। उनका जीवन राजकुमारों का जीवन था। वे अपनी विधवा मा के अकेले पुत्र थे।

आज से कुछ दिन पहले वे अत्युत्तम, बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे, मखमली गद्दों पर सोते थे, मोटरों पर चढ़ते थे, क्लबों में जाते थे, टेनिस खेलते थे, साहब लोगों को भोज देते थे। परन्तु आज उनकी अवस्था कितनी बदल चुकी थी। वे कैद थे—उन्होंने असहयोग किया था। उनके दरवाजे पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई थी, उन्होंने ओजस्विनी वक्तृता दी थी, लोग उनकी मोहनी वाणी पर लट्टू हो गये थे।

चन्द दिन हुए, उनका ब्याह एक निकट सम्बन्धी की रूपवती कन्या से होना निश्चित हुआ था। कन्या के पिता ने ब्याह पर जोर दिया, तो अब्दुल वहीद हँसे। उनका विचार न था, कि ऐसे हलचल के युग में ब्याह किया जाये। मगर कन्या के पिता ने न माना, ब्याह हो गया। बराती खद्दर के वस्त्र पहने हुए थे।

कैदी

रात का समय था। अब्दुल वहीद अपनी स्त्री के पास बैठे उसके सुन्दर मुख की ओर देख रहे थे। इस मुख पर कैसी आभा थी, कैसा लालित्य। उस पर एक विचित्र भोलापन बरसता था। अब्दुल वहीद आनन्द से झूमने लगे। वह अधीर होकर आगे बढ़े, और प्यार से पत्नी का हाथ थामकर बोले, 'रजिया...।'

सहसा किसी ने दरवाजे पर हाथ मारा। अब्दुल वहीद चौंककर परे हट गये। सहमी हुई नव-वधू एक कोने में दबक गई। अब्दुल वहीद ने दरवाजा खोलते हुए पूछा—'कौन है?'

उनकी बड़ी बहन घबराई हुई कमरे के अन्दर आई, और बोली—'बाहर पुलीस के आदमी खड़े हैं।'

अब्दुल वहीद के मुख पर जरा भी चिन्ता न थी। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा-'मामूली बात है, मैं इसके लिए पहले ही तैयार था।'

दूसरे दिन अभियोग पेश हुआ। अब्दुल वहीद ने किसी प्रश्न का उत्तर अथवा बयान देने से इन्कार कर दिया। मैजिस्ट्रेट ने उन्हें छः मास कठोर कारावास का दण्ड दिया। यह फैसला सुनकर बूढ़ी मा की आँखों में आँसू आ गये। मगर अब्दुल वहीद का मुखमण्डल फूल के समान खिला हुआ था। उन्होंने हँसकर कहा—'मैं मजिले मकसद पर पहुँच गया।'

अब वह कैदी थे। पहली रात उनको कैद का कड़वा अनुभव हुआ। भूमि गीली थी, कंबल सुइयों की तरह चुभता था, गमलोंसे दुर्गन्धि आती थी। रात जागते कट गई। परन्तु प्रातःकाल उनकी आँख लग गई।

सुपने में वह अपनी स्त्री के पास थे, जहाँ कच्चा सौन्दर्य था, कुँवारा यौवन था; सुमधुर हँसी थी, स्वतंत्रता का स्वर्ग था। अब्दुल वहीद गद्गद और प्रसन्न थे। एकाएक आँख खुल गई, जागृति ने वही दृश्य सामने कर दिया। वह कैदी थे।

थोड़ी देर बाद एक साहब आये। उनकी गवर्नमेन्ट में बड़ी चलती थी। वे अब्दुल वहीद से बोले—'अब्दुल वहीद! तुम्हारी हालत पर मुझे रोना आता है। तुम एक बहुत बड़े अमीर हो! तुम्हारी भलमसी सारे नगर में प्रसिद्ध है। तुम्हारी

शादी अभी परसों हुई है। तुम्हारी बीबी ने अरुस का जोड़ा भी अभी नहीं बदला। माफ़ी माँग लो, छूट जाओगे।'

अब्दुल वहीद ने सिर झुका लिया। दूर नगर में उन्होंने अपने विशाल मकान का, बूढ़ी मा का, जवान स्त्री का, और जीवन के भोग-विलासों का विचार किया। हृदय चंचल हो उठा। बीती हुई रात का ख्याल आया। निर्बलता ने एक प्रबल धक्का दिया। धैर्य की दीवार काँपने लगी।

एकाएक अब्दुल वहीद को अपनी वक्तृता का एक हिस्सा याद आ गया—

'वतन की खिदमत फूलों का बिस्तर नहीं, यह जवानी की मौत है। इस रास्ते पर चलना उसी का काम है जिसने अपने आपको बस में कर लिया हो, और हर किस्म की तकलीफ़ें, और मुसीबतें सहने के लिए तैयार हो।'

विचार बदल गया, गिरती हुई दीवार थम गई। अब्दुल वहीद ने हाथों की मुट्ठियाँ कस लीं और मुस्कराकर उत्तर दिया—'मैं रिहाई नहीं चाहता।'

———

हार-जीत

[१]

कलकत्ते के सेठ नरोत्तमदास बड़े प्रसिद्ध व्यापारी हैं। उनको लाखों की आमदनी है। वैसे तो उन्होंने कई कामों में अपना रुपया लगा रखा है, परन्तु उनका अधिकतर काम कपड़े का है। दूसरे-तीसरे महीने दो-तीन लाख का आर्डर विलायत जाता रहता है। उनकी दूकान पर सौ-दो सौ रुपये का कपड़ा नहीं बिकता, वे इसे अपना अपमान समझते हैं। उनके सौदे हजारों से कम नहीं होते। उनकी गिनती बम्बई के प्रतिष्ठित पुरुषों में है। बाल-वृद्ध सब उनके नाम को जानते हैं। और इतना ही नहीं, गवर्नमेंट के अफसरों तक उनकी पहुँच है। हर अवसर पर बीस-तीस हजार रुपया चन्दा दे देते हैं।

जब देश में स्वदेशी की लहर चली, तो सेठ साहब भी चौकन्ने हुए। जगह-जगह जलसे हो रहे थे, दो-तीन व्यापारियों ने जोश में आकर प्रण भी कर लिया कि हम भविष्य में विलायती कपड़ा नहीं मँगायेंगे। परन्तु सेठ साहब पर इस आन्दोलन का कुछ प्रभाव न पड़ा, जिस प्रकार तेल के घड़े पर जल नहीं ठहरता। जब कोई उनसे कहता, सेठ साहब! आप कब तक इस कीच में फँसे रहेंगे, तो हँसकर उत्तर देते, इस कीच से मेरी तो लाश ही निकलेगी, जीते जी तो इसे न छोड़ूँगा।

इसके बाद भोला-सा मुँह बनाकर कहते—देखिए साहब ! यह गुल-गपाड़ा केवल चार दिन का है, थोड़े दिन और ठहर जाइए ! फिर वही विलायती माल और वही यह लोग । क्या आप समझते हैं, कि विलायती कपड़े का मार्केट बन्द हो जायगा ? कुछ ही दिनों में देख लेना, लोग इस खादी से तंग आ जायँगे । जोश में आया हुआ मनुष्य कुछ समझ नहीं सकता, वर्ना क्या आप ख्याल भी कर सकते हैं कि यदि भारतवर्ष से अंगरेज चले जायें ; तो यहाँ मार-काट आरंभ न हो जाये । अफ़गानिस्तान इन्हीं से डरता है; नहीं तो हमें चार दिन में खा जायें !

[२]

परन्तु सेठ साहब का पुत्र लखमीचन्द इस आन्दोलन का तन-मन से पक्षपाती था । प्रायः जोश से कहा करता, इस कपड़े ही ने हमारे देश को पराधीन बना रखा है । जब तक स्वदेशी का अन्दोलन पूर्णरूप से सफल नहीं होता तब तक इस दासत्व का पूर्णरूप से नाश नहीं होगा । जब वह विलायत के बहुत बढ़िया कपड़े पहना करता था, उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई बैरिस्टर है । परन्तु, अब उसकी अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर था । अब यह विलायती कपड़े देखकर उसकी आँखों में लहू उतर आता था । एक दिन बाज़ार से खद्दर के कपड़े खरीद लाया, और अपने विलायती कपड़ों के भरे हुए तीन बक्सों में आग लगा दी । सायंकाल सेठ साहब ने यह सुना तो क्रोध से लाल-पीले हो गये, और स्त्री के पास जाकर बोले—'यह तुम्हारा लाल क्या कर रहा है ? सुना है, आज उसने अपने सब कपड़े जला डाले हैं ।'

सेठानी ने धीरे से उत्तर दिया—'मैं भी उस समय खड़ी देख रही थी ।'

'तो तुमने उसे रोका नहीं ?'

'मैं रोककर क्या करती ? वह कोई बुरा काम थोड़े हो कर रहा था ?'

'तो तू भी उसके साथ है ।'

'और क्या ?'

'बड़ा शुभ काम है ! जब तो समझती होगी कि तुमने तीर्थ कर लिया !'

सेठानी का चेहरा तमतमा उठा, चमककर बोली—'तीर्थ से बढ़कर ।'

सेठ साहब ने बैठकर कहा—'मेरे घर में यह बातें न चलेंगी।'

'देखो! लड़के को कुछ कह न बैठना। उसका दिल छोटा हो जायगा। और यह काम वैसे भी भला ही है। कोई सारा देश पागल तो नहीं हो गया?'

'पागल हो हो गया है।'

'महात्माजी भी?'

'यह मैं नहीं कह सकता। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा, कि यह जोश चार दिन का है। इसके बाद फिर लोग वही विलायती कपड़ा पहनने लगेंगे।'

सेठानी ने कहा—'अच्छा! अब लड़के को कुछ न कहना।'

सेठ साहब बिलबिला उठे, जैसे बच्चे के मुँह में मिर्च आ जाये। उन्होंने सेठानी को घूरकर देखा, और बोले—'तुम उसकी बार-बार सिफ़ारिशें क्यों कर रही हो? उसने जो नुक़सान कर दिया है, उसके विषय में दो बातें करना भी अब पाप हो गया है?'

इतने में लखमीचन्द बाहर से आया। वह खादी के कपड़े पहने हुए था। पाँवों से नंगा था। इस समय वह सन्तोष की मूर्ति दिखाई देता था। परन्तु सेठ साहब को सिर से पाँवों तक आग लग गई। बिगड़े हुए शेर की तरह बोले—'यह क्या रंग बनाया है तूने?'

लखमीचन्द ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—'कुछ नहीं, खादी है।'

'तू भी पागल हो गया क्या?'

'देश के साथ रहना ही उचित है। मैं तो आपसे भी प्रार्थना करूँगा, कि विलायती कपड़े का व्यापार छोड़ दें।'

'और खयें कहाँ से?'

'भगवान् सौ दरवाज़े और खोल देगा। और हमको तो चिन्ता ही काहे की है?'

सेठ साहब ने गरजकर कहा—'तू बकता क्या है? मेरे घर में यह पागलपन नहीं चलेगा।'

लखमीचन्द सीधे स्वभाव का आदमी था। पिता के विरुद्ध सिर उठाना अनुचित

समझता था, परन्तु अनुचित दबाव सहन न कर सका। सिर उठाकर बोला—'मेरा यह पागलपन अब दूर नहीं होगा।'

'अच्छा! इतना साहस?'

'मैंने कोई अनुचित बात नहीं कही।'

'मैं तुझे घर से निकाल दूँ, तो एक दिन में होश आ जाय।'

पिता यहाँ तक पहुँच जायेंगे, लखमीचन्द को इसकी आशा न थी। क्रोध से बोला—'तो इससे मैं भी मर न जाऊँगा। लीजिए, मैं चला।'

सेठानी के हृदय में तीर-सा चुभ गया, रोती हुई बोली—'बेटा! क्या पागलपन करता है? तूने तो कभी इतना क्रोध नहीं किया था।'

लखमीचन्द ने मुँह मोड़कर कहा—'आपने देखा! पिताजी ने क्या कहा है?'

सेठ साहब बोले—'हाँ, कहा है, जाओ। देखता हूँ, कौन तुम्हारे लिए पराठे लेकर बैठा है।'

लखमीचन्द उलटे पाँव बाहर निकल गया।

उसकी मा कुछ क्षण तक चुपचाप बैठी रही। सेठ साहब मन ही मन लज्जित हो रहे थे, कि क्यों क्रोध किया? बात को इतना बढ़ाना उचित न था। परन्तु अब अपना दोष मानते हुए लज्जा आती थी। यह लज्जा कभी-कभी हमको बहुत खराब करती है। थोड़ी देर बाद सेठानीजी ने नागिन के समान गरदन ऊँची करके कहा—'अगर मेरे लड़के को कोई तकलीफ़ हुई तो आप जानेंगे।'

[२]

दूसरे दिन सेठ साहब की स्त्री ने भी खद्दर के कपड़े पहन लिये। सेठ साहब ने देखा तो दिल में पानी-पानी हो गये। वह मानते नहीं थे, परन्तु उनका मन कहता था, कि दोष उन्हीं का है। इस दोष को स्वीकार करते हुए, उनका कोई मुँह बंद कर देता था। उन्होंने स्त्री को इस वेष में देखा और दृष्टि नीची करके रह गये। कोई बात करने का साहस न हुआ, चुपचाप दुकान को चले गये।

सायंकाल को मालूम हुआ, कि स्त्री भी घर से बेटे के पास चली गई है। लखमीचन्द ने बाजार में एक बैठक किराये पर ले ली थी। उसकी मा भी वहीं जा

पहुँची। लखमीचन्द ने उसे खद्दर के वेष में देखा तो उसके हर्ष की सीमा न रही, रोता हुआ उसके पाँव से लिपट गया! मा ने कहा—'लखमी! घर चल।'

लखमीचन्द ने उठकर उत्तर दिया—'पिताजी ने धमकी दी थी।'

माता—'पिता पुत्र को धमकाया ही करते हैं।'

'परन्तु यह धमकी बिल्कुल नामुनासिब थी।'

'मामूली बात है।'

मा ने पुत्र को बहुत समझाया, परन्तु उसने एक 'न' अक्षर ऐसा पकड़ा कि सैकड़ों यत्नों पर भी न छूटा। हारकर वह भी वहीं रहने लगी। पुत्र-प्रेम ने पति-प्रेम को दबा दिया, सेठ साहब झुँझलाकर रह गये। परन्तु अपने हठ पर अड़े रहे, मूछों पर ताव देकर बोले—'देखूँ! यह अकड़ कितने दिन चलती है?'

दूसरे दिन शहर में नया खेल आरंभ हुआ। विलायती कपड़े की दुकानों पर पहरा लगाया गया। स्वयंसेवकों की सरगरमी देखने योग्य थी। उनका जोश देखकर मन का कमल खिल उठता था। लखमीचन्द भी एक बजाज की दुकान पर जाकर बोला—'सेठ साहब! एक प्रार्थना है।'

सेठ साहब ने खद्दर का वेष, धनाढ्यों का-सा रूपरंग और देवताओं का-सा तेज-प्रताप देखा तो हृदय श्रद्धा से भर गया। आदर से बोले—'क्या आज्ञा है?'

'यह काम बड़ा नीच है, छोड़ दीजिए।'

'कौन-सा काम?'

'यही विलायती कपड़े का काम! सारा देश इसके विरुद्ध खड़ा हो गया है।'

दुकानदार ने हाथ जोड़कर पूछा—'तो महाराज, खायेंगे क्या?'

'आपको भगवान ने बहुत कुछ दे रखा है, सौ काम कर सकेंगे।'

इतने में एक दूसरा दुकानदार आ गया। उसने आते ही लखमीचन्द की ओर आगभरी आँखों से देखा और बोला—'क्या बात है?'

पहले दुकानदार को सहारा मिल गया, जरा तेज होकर बोला—'कहते हैं, कपड़ा बेचना बन्द कर दो।'

दूसरे दुकानदार ने कहा—'हम यह नहीं कर सकते। कपड़ा बराबर बेचेंगे।'

'तो आपकी दुकानों पर पहरा लगाना पड़ेगा।'

पहला दुकानदार घबरा गया। उसने सुना था, कि स्वयंसेवकों का पहरा कितना सख्त होता है, और इसका परिणाम कैसा भयानक।

उसके चेहरे का रङ्ग उड़ गया। मगर दूसरे दुकानदार पर इसका कुछ प्रभाव न हुआ! उसने हँसी उड़ाते हुए कहा - 'तू लखमीचन्द है क्या?'

लखमीचन्द का कलेजा धड़कने लगा। उसने उत्तर दिया—'हाँ।'

'सेठ नरोत्तमदास का बेटा?'

'जी हाँ!'

'तो भाई मेरे! पहले बाप का काम छुड़वाओ, फिर हमारी दुकानों पर आना।'

पहले दुकानदार के शरीर में जान आ गई, उसने कहा—'अच्छा! यह उनका बेटा है, राम राम! तो भाई पहले बाप की दुकान पर पहरा क्यों नहीं देते? हमारी तो बाद में बारी आनी चाहिए। कल्याण का काम पहले घर से शुरू करो ना।'

लखमीचन्द के कलेजे में तीर-सा लगा। उसने सोचा, सचमुच यह मेरी ढिठाई है, जो पहरे के लिए खड़ा हो गया। मुझे पिता की परिस्थिति देखनी चाहिए थी। इस तरह से हमारे आंदोलन की हँसाई हो सकती है। उसका जोश सोडे के उबाल की तरह बैठ गया। वह लज्जित होकर अपने कप्तान के पास गया, और बोला—'मेरा पहरा पिताजी की दुकान पर लगाओ।'

कप्तान ने सारी बात सुनी तो स्तंभित रह गया—'यह बड़ी कठिन-सी बात है।'

'मगर मैं आसान कर दूँगा।'

'आज की खबरें तुमने सुनीं?'

'नहीं।'

'तुम्हारे पिताजी ने हमारे पन्द्रह स्वयंसेवक गिरफ्तार करा दिये हैं।'

लखमीचन्द ने लज्जित हो सिर झुकाकर उत्तर दिया—'तो मैं इसका प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ।'

इस समय उसके मुख पर ऐसी लज्जा बरस रही थी, मानो स्वयं उसने कोई अपराध किया हो। पिता के दोष पर पुत्र लज्जित हुआ।

कप्तान ने कहा—'तो अच्छा! कल से तुम्हारा पहरा तुम्हारे पिता की दूकान पर है।'

[४]

प्रातःकाल हो चुका था। सेठ नरोत्तमदास की दूकान पर स्वयंसेवकों की भीड़ थी। वह व्यापारियों की मिन्नतें करते थे, उनको समझाते थे, उनके पाँव पकड़ लेते थे। व्यापारियों के हृदय पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। सब वापस चले गये।

सेठ साहब ने दुकान से बाहर निकलकर कहा—'मैं फ़ोन पर पुलीस को खबर देने जाता हूँ। आप लोग यदि हट जायें तो अच्छा है।'

एकाएक उनकी दृष्टि लखमीचन्द पर पड़ी। उनके हौसले टूट गये। जिस तरह उड़ता हुआ कबूतर बाज को देखकर सहम जाता है, उसी तरह पुत्र को स्वयंसेवकों में देखकर उनका जोश बैठ गया। मन में सोचा, यही लड़का है जो कभी मोटर के बिना दो पग भी नहीं चलता था, आज इसके पाँव में जूता भी नहीं। सिर के बाल ख़ुश्क हो गये हैं। कपड़े खद्दर के, परन्तु चेहरा उसी तरह चमक रहा है। घर से बेघर होकर भिखारियों की-तरह काम कर रहा है। परन्तु अपना कोई स्वार्थ नहीं, जो कुछ करता है, देश और जाति के हित के लिए—और इस समय कैद होने को भी तैयार है। राजकुमारों की नाईं पला है, परन्तु अपराधियों की नाईं दण्ड भुगतने को तैयार है। एक मैं हूँ, कि रुपये के लोभ में देश और जाति दोनों की परवा नहीं करता। कहने को कोई न कहे, मगर यह बात तो सच्ची है कि हम अपने लाभ के लिए भारत को लुटा रहे हैं। अगर यहाँ का रुपया यहीं रहे, तो कितने घरों का रोना बन्द हो जाये, और कितने ग़रीबों की कंगाली दूर हो जाये। हमने मलमल की बारीकी और मखमल की नर्मी को देख लिया है, यह विचार नहीं किया कि अपने कपड़े का बर्ताव हो तो कितनी विधवाओं के लिए आजीविका बन सकती है। सेठ साहब का हृदय भर आया। उन्होंने लखमीचन्द को घर से निकाल दिया था, परन्तु

उसे कैद कराने पर उद्यत न हो सके। चुपचाप दूकान के अन्दर चले गये। लखमीचन्द ने यह देखा, तो सब कुछ समझ गया।

थोड़ी देर बाद दूकान के एक नौकर ने आकर लखमीचन्द से कहा—'आपको सेठ साहब बुलाते हैं।'

लखमीचन्द दूकान में गया, और बाप के सामने चुपचाप खड़ा हो गया। सेठ साहब ने उठकर उसे गले से लगा लिया, और कहा—'लखमी! तुमने मुझे शिक्षा दे दी है, मैं यह काम छोड़ देता हूँ।'

लखमीचन्द पर जादू-सा हो गया। उसने रुक-रुककर पूछा:—

'तो आप यह काम छोड़ देंगे?'

'इसी समय।'

लखमीचन्द ने पिता की ओर देखकर कहा—'मैंने आपके सामने गुस्ताखी की थी, मुझे क्षमा कर दीजिए।'

नरोत्तमदास ने पुत्र को दूसरी बार गले से लगाया, और प्यार से मस्तक चूम लिया।

इतने में मुन्शी ने एक कागज़ हस्ताक्षर कराने के लिए सामने रखा। इसमें तीन लाख रुपये की धोतियों के लिए आर्डर था। सेठजी ने उसे फाड़कर फेंक दिया, और मैनेजर से कहा—'दुकान बन्द कर दो।' फिर लखमीचन्द से बोले—'तुम मोटर लेकर घर चलो, अपनी मा को भी लेते चलो। मैं भी ज़रा ठहरकर आता हूँ।'

लखमीचन्द गद्‌गद हो रहा था। हँसता हुआ वालंटियरों के पास गया, और बोला—'पहरा हटा दो, दूकान बन्द कर दी गई है।'

एक स्वयसेवक ने पूछा—'और यह माल?'

'किसी दूसरे देश में थोड़े मूल्य पर बेच दिया जायगा।'

स्वयसेवकों ने चिल्लाकर कहा—'बोलो भारत-माता की जय!'

'सेठ नरोत्तमदास की जय!'

'भाई लखीमचन्द की जय!'

हार-जीत

[५]

रात का समय था, सेठ नरोत्तमदास मोटर से उतरकर मकान के अन्दर गये। उनकी स्त्री ने उनको ओर देखा, तो आनन्द से झूमने लगी। सेठ साहब भी खद्दर के कपड़े पहने हुए थे। उसने सेठ साहब को विलायत के बने हुए बढ़िया से बढ़िया और बहुमूल्य कपड़े पहने देखा था। वे उनके शरीर पर सजते थे। परन्तु आज खद्दर के कपड़ों में वे मनुष्य नहीं, देवता बने हुए थे। उन कपड़ों में ओछापन था, इनमें भोलापन। उनमें दिखावा था, इनमें सच्चाई। उनमें भड़क थी, इनमें सादगी। सेठानी का हृदय आनन्द में मग्न हो गया, वह रोती हुई उठकर पति के पैरों पर गिर पड़ीं। सेठ साहब ने कहा—'तुम्हारे लिए एक चीज़ लाया हूँ।'

सेठानी ने कुछ उद्विग्न-सी होकर पूछा—'वह क्या?'

'लखमी कहाँ है?'

'अपने कमरे में।'

'ज़रा बुलाओ तो।'

लखमीचन्द आ गया। पिता को खद्दर के वेष में देखकर उसका हृदय गद्गद हो गया। सेठ साहब ने कहा—'बेटा! बाहर मोटर में तुम्हारी मा के लिए एक तोहफ़ा रखा है। जाओ उठा लाओ।'

थोड़ी देर बाद लखमीचन्द एक सुन्दर चर्खा और रुई उठाये हुए अन्दर आया। सेठानी ने हँसकर कहा—'मेरे विचार में यह चार दिन का खेल है, फिर वही लोग और वही विलायती माल।'

सेठ साहब का मुँह लाल हो गया। कुछ दिन पहले यही शब्द उन्होंने आप कहे थे। उस समय उनका विचार था, कि यह आन्दोलन शीघ्र ही मर जायेगा। परंतु अब अवस्था बदल गई थी। अब उनको पूर्ण विश्वास था, कि इस आन्दोलन को ब्रह्मा भी नहीं जीत सकता। अब वह स्वयं स्वदेशी वस्त्र पहन चुके थे। लज्जित-से होकर बोले—'लाज्जत क्यों करती हो, मैं अपनी हार आप स्वीकार करता हूँ।'

'परन्तु आपने हारकर ही बाज़ी जीत ली है।'

सेठ साहब समझ न सके, कि इसका अर्थ क्या है, चकित-से होकर बोले—'इससे तुम्हारा क्या मतलब है ?'

लखमीचन्द ने दैनिक पत्र 'आन्दोलन' का नया अङ्क उनके हाथ में देकर कहा—'देखिए।'

सेठ साहब ने पर्चा लेकर देखा। पहला ही लेख उनकी प्रशंसा में था। पढ़कर बोले—'क्या वाहियात है! मैं इतनी प्रशसा के योग्य नहीं।'

सेठानी चर्खा कातने लगी थीं। उसकी घूँ-घूँ की सुमधुर आवाज़ में वह शब्द डूब गये।

लखमीचन्द खड़ा मुस्करा रहा था।

———

अन्तिम साधन

[१]

रायबहादुर देवीचन्द की सफलता और समृद्धि का रहस्य केवल यह था कि वे अधिकारी-वर्ग के पुछल्ले थे। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई गुण न था। कमिश्नर, डिप्टी कमिश्नर, जज, सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलीस, इञ्जीनियर जो कोई आता, उससे चार ही दिन में मेल-जोल पैदा कर लेते। वे जाति के बनिये थे, मांस से उन्हें अत्यन्त घृणा थी, मगर जब किसी साहब को निमन्त्रण देते, तो यह भेदभाव उड़ जाता था। उस दिन उन्हें मांस की रकाबी हाथ से पकड़ने में भी सकोच न होता था। और इतना ही नहीं, हरिण, बटेर, मुर्गाबियाँ, अण्डों की डालियाँ साहब लोगों के यहाँ प्रायः भेजी जाती थीं। अपने कई बाग थे; परन्तु उनके फल खाने उनके प्रारब्ध में न लिखे थे, वह साहब लोगों की डालियों के लिए समर्पण हो चुके थे। अपने लिए बाज़ार से मँगवाते थे। और इसका परिणाम यह था, कि उनकी ठीकेदारी दिनों-दिन बढ़ती पर थी। वे कुछ काम न करते थे, वे इसे अपनी मान-मर्य्यादा से गिरा हुआ समझते थे। परन्तु फिर भी उनकी आमदनी हज़ारों तक पहुँचती थी। शानदार कोठी में रहते थे। बाज़ार से निकल जाते, तो लोग झुक-झुककर प्रणाम करते थे। रायबहादुर यह देखते तो फूले न समाते, मुस्कराहट हँसी का रूप धारण कर लेती। परन्तु वे इसे अन्दर ही अन्दर पी जाते थे।

समय ने रंग बदला, और देश की परिस्थिति ने भी दूसरा रूप धारण किया। बाजारों में महात्मा गांधी की जय के जयकारे गूँजने लगे। घरों में स्त्रियाँ खद्दर पहनने लगीं। गवर्नमेण्ट ने धर-पकड़ आरंभ की। परन्तु लोगों पर इसका प्रभाव उल्टा हुआ। जोश और भी बढ़ गया, जिस प्रकार नीम का पेड़ छाँटने से और भी बढ़ जाता है। छोटे-छोटे बालक भी बाज़ार से निकलते तो जातीय गीत गाते हुए। रायबहादुर देवीचन्द यह देखते तो जल-भुनकर कोयला हो जाते। उनको इस लहर में अपने ऐश्वर्य और सुख-समृद्धि का विनाश दिखाई देता था। इस विनाश का आरंभ हो भी चुका था लोग उनको अब सलाम नहीं करते थे; देखते तो घृणा से मुँह फेर लेते, मानो उन्होंने कोई पाप किया हो।

[२]

रात का समय था, स्वयंसेवक विलायती कपड़े जमा कर रहे थे। रायबहादुर देवीचन्द की मोटर कोठी के आँगन में पहुँची, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न था। कांग्रेस कमिटी के स्वयंसेवक विलायती कपड़े समेट रहे थे, और उनका नौकर अन्दर से रेशमी और मखमली कपड़े की गठरियाँ ला-लाकर उनको दे रहा था। रायबहादुर को देखते ही स्वयंसेवकों ने जोर से कहा—'महात्मा गांधी की जय!' रायबहादुर का कलेजा हिल गया, उन्होंने घबराकर सड़क की ओर देखा, कि कहीं कोई अंग्रेज़ तो नहीं आ रहा है। देखकर उनके शरीर में प्राण आये। नौकर की ओर आँखें लाल करके बोले—'यह क्या हो रहा है?'

नौकर ने आदर से हाथ जोड़कर उत्तर दिया—'सरकार! माजी ने आज्ञा दी है कि, सब दे डालो।'

रायबहादुर अन्दर गये। सुशीला बड़े जोश के साथ कपड़े चुन-चुनकर ट्रङ्कों से निकाल रही थी। तिल्ले की साड़ियाँ, फीतेवाली धोतियाँ, रेशमी दुपट्टे, सल्मे-सितारे के मढ़े हुए कुर्त्ते, अंग्रेज़ी फ़ैशन के जम्पर सब इधर-उधर फर्श पर बिखरे हुए थे और कहारिन उनको चुन-चुनकर गठरियाँ बाँध रही थी। इस समय सुशीला का मुख इस प्रकार चमक रहा था, जैसे तीर्थयात्रा की तैयारियाँ कर रही हो। रायबहादुर उस पर प्राण देते थे और उसकी किसी बात को भी टालना न चाहते थे। यही

कारण है कि उसको यहाँ तक साहस हो गया था। उसको पूरा विश्वास था कि रायबहादुर इसमें ज़रा भी हस्तक्षेप न करेंगे। परन्तु फिर भी रायबहादुर को कमरे में आते देखकर उसका हृदय धड़कने लगा। कहारिन ने सिर का वस्त्र नीचे खसका लिया।

• रायबहादुर ने कपड़ों की ओर अँगुली करके पूछा—'यह क्या तमाशा हो रहा है?'

आवाज़ में कोमलता थी।

सुशीला का कलेजा धड़कना बन्द हो गया, बोली—'मैंने स्वदेशी वस्त्र पहनने का प्रण कर लिया है। विदेशी माल होली के लिए दे रही हूँ।'

रायबहादुर कुछ क्षण तक चुप रहे, फिर कोमल स्वर में कहने लगे—'यह तुम्हारे सिर पर क्या धुन सवार हुई है?'

'अब यह वस्त्र पहनने को जी नहीं चाहता। सारा देश इनके विरुद्ध है। हम अकेले क्या कर सकते हैं?'

'लोग तो पागल हो रहे हैं।'

'तो हमें भी भाइयों के साथ पागल हो जाना चाहिए।'

'परन्तु इतनी भारी हानि?'

'हानि कैसी?'

'यह जो कपड़े चुन-चुनकर निकाल रही हो, इन सब पर रुपये ख़र्च हुए हैं या यों ही आये थे?'

सुशीला ने देखा, वह समय आ गया है, जिसका ख़्याल था। वह इसके लिए पहले ही से तैयार थी। सँभलकर बोली—'जब मैंने यह निश्चय ही कर लिया, कि यह कपड़े न पहनूँगी तो इनका होना, न होना बराबर है। हानि तब हो जब नये खरीद कर पहनूँ। इनका मोल दिया जा चुका है, क्या बजाज हमसे वापस ले लेगा?'

रायबहादुर निरुत्तर हो गये। वे उन मनुष्यों में से थे, जिनको लोग जोरूदास कहते हैं; परन्तु वे स्त्री को कुछ न कह सकते हों, यह बात न थी। वे कभी-कभी उससे रूठ भी जाया करते थे, इससे सुशीला के प्राण सूख जाते थे। परन्तु यह रोष

थोड़े समय के लिए हुआ करता था। घण्टे दो घण्टे पश्चात् फिर मेल-मिलाप हो जाता था। वे लज्जित होकर बोले—'अच्छा, आगे से विलायती कपड़े न खरीदो, परन्तु जो खरीदे हुए हैं उनको जलाने से क्या लाभ?'

सुशीला ने उत्तर दिया—'और जब इनको छोड़ दिया, तो इनके रखने से क्या लाभ?'

'कन्या के विवाह में दे देंगे।'

'मैं यह बात कभी न होने दूँगी। अब तो कन्या के विवाह में भी खद्दर ही चलेगा।'

पुरुषों का स्वभाव है, जब निरुत्तर हो जाते हैं, तो उपदेश देने लग जाते हैं। रायबहादुर ने भी इसी मार्ग का आश्रय लिया। मुस्कराकर बोले—'मैंने आज तक तुम्हें पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है। परन्तु मैं यह तुम्हें कहे देता हूँ कि तुमको हर काम सोच-समझकर करना चाहिए।'

कहारिन बाहर चली गई। सुशीला ने निकट आकर पति का हाथ थाम लिया और उन्हें एक बक्स पर बैठाकर बोली—'आप मुझे बतला दें, कि यह मेरी भूल है, फिर मैं इस ओर भूलकर भी मुँह न करूँगी।'

इतने में बाहर से स्वयंसेवकों ने चिल्लाकर कहा—'महाराज, जल्दी कीजिए, हमें देर हो रही है। रायबहादुर के कपड़े भी चाहिए।'

दूसरी आवाज़ आई—'भारतमाता की जय!'

रायबहादुर पर भय छा गया। यदि यह जयकार किसी अंग्रेज ने सुन लिया तो क्या होगा? इस विचार से उनका सिर चकराने लगा। घबराकर बोले—'यह तुमने सुना, क्या हो रहा है?'

'कुछ भी नहीं, भारतमाता का जयकार है।'

रायबहादुर ने नाक चढ़ाकर कहा—'हूँ।'

'हूँ क्या? अब 'भारतमाता की जय' कहना भी पाप हो गया?'

'हाँ, पाप हो गया है। यह अंग्रेजों को चिढ़ाने के लिए है।'

सुशीला ने कपड़ों की गठरी बाँधकर कहारिन को पुकारा—'यह गठरी ले

जाओ,' और स्वामी से बोली—'अब अगर इससे भी किसी को कष्ट होता है, तो इसका उपाय क्या है ?'

इतने में बाहर से स्वयंसेवकों की आवाज आई—'वन्दे मातरम् !'

आग पर तेल पड़ गया। रायबहादुर ने कहारिन के हाथ से गठरी छीनकर कहा—'मैं यह नहीं होने दूँगा।'

सुशीला का चेहरा उदास हो गया, सिर झुकाकर बोली—'मैंने प्रतिज्ञा की थी।'

रायबहादुर चुप हो गये। जब वे क्रोध में होते थे, उस समय चुप हो जाया करते थे। इस चुप्पी से सुशीला भी काँप जाया करती थी। उसने रुक-रुककर कहा—'मैंने देवी के सामने प्रतिज्ञा की थी।'

रायबहादुर चुप रहे। बाहर से आवाज़ें आईं—'जल्दी कीजिए।'

रायबहादुर की सहनशक्ति जाती रही। खूँटी से हण्टर उतारकर बोले—'मैं इन पाजियों को ठीक कर दूँगा।'

सुशीला ने पति का हाथ पकड़ लिया—'मैं उनको विदा कर देती हूँ। आप यह न करें।'

रायबहादुर ने हाथ छुड़ाकर उत्तर दिया—'यह मेरी कोठी में आये क्यों हैं ?'

'इसमें बड़ी निन्दा होगी।'

'मुझे इसकी कुछ परवा नहीं।'

रायबहादुर चले गये। उनके हाथ में हण्टर देखकर स्वयसेवकों ने ज़ोर से कहा—'भारत-माता की जय।'

सड़क पर एक अंग्रेज़ जा रहा था। रायबहादुर का मुँह और भी तमतमा गया, जिस प्रकार मद्य में धतूरे के बीज मिल जाने से मद और भी बढ़ जाता है। उन्होंने अन्धाधुन्ध हण्टर बरसाने आरम्भ कर दिये। वालंटियर देर तक मार खाते रहे। उनकी सहनशक्ति देखकर रायबहादुर चकित रह गये। उनके हाथ थक गये परन्तु स्वयसेवकों के मस्तक पर बल न था। इतने में बरामदे के अन्धेरे से सिसकी भरने की आवाज़ आई। रायबहादुर का हाथ रुक गया। स्वयसेवकों ने चिल्लाकर कहा—'भारत-माता की जय !'

इन आवाज़ों में कुछ ऐसी आवाज़ें भी थीं जो रो रही थीं। सुशीला के हृदय पर कटारें चल गईं। वह अब न रह सकी, रोती हुई आगे बढ़ी और रायबहादुर का हाथ पकड़कर बोली—'क्या कर रहे हो ! क्या अब मार ही डालोगे ?'

रायबहादुर ने हाथ रोक लिया।

[२]

रात को सुशीला ने स्वप्न देखा कि वह देवी की मूर्ति के सामने पूजा कर रही है, परन्तु गीत तुलसी का गा रही है। स्वप्न में ऐसी बेजोड़ की बातें प्रायः देखी जाती हैं। एकाएक देवी के हाथ काँपते हुए दिखाई दिये। सुशीला का हृदय धड़कने लगा।

देवी ने कहा—'सुशीला !'

सुशीला सिर झुकाकर बोली—'माता !'

'पीछे हट जा। तुझे मेरी पूजा का अधिकार नहीं।'

'मैंने क्या अपराध किया है माता ?'

'तूने प्रतिज्ञा भंग की है। तेरा भला न होगा।'

सुशीला के कानों में किसी ने सीसा गर्म करके डाल दिया। सायंकाल की घटना के संस्कार प्रत्यक्ष हो गये। नम्रता से बोली—'माता ! मैं क्या करूँ ? वे नहीं मानते।'

देवी का क्रोध से भरा हुआ मुख-मण्डल और भी भयानक हो गया। उसने कर्कश स्वर से कहा—'तूने प्रतिज्ञा क्यों की थी ?'

सुशीला रोने लगी। इतने में चारों ओर से आवाज़ें आने लगीं, 'तूने प्रतिज्ञा क्यों की थी ?' दृश्य बदला। आकाश पर मेघ गरज रहे थे, पृथ्वी पर वेग से नदियाँ दौड़ रही थीं। सुशीला अपने पति सहित तख्ते पर बही चली जा रही थी। सहसा भयानक तरङ्गों के अन्दर से एक मगरमच्छ निकला। उसका चेहरा एक स्वयंसेवक से मिलता-जुलता था। सुशीला ने इशारे से पति को दिखाया। परन्तु न जाने रायबहादुर को हण्टर कहाँ से मिल गया। उन्होंने मगरमच्छ पर पूरे ज़ोर से आक्रमण किया। मगरमच्छ ने हण्टर की परवा न की और रायबहादुर की टाँग पकड़कर उनको समुद्र में

घसीट लिया। सुशीला के मानो प्राण निकल गये। वह उनको बचाने के लिए समुद्र में कूद पड़ी। उसका शरीर काँपा। उसने जोर से चीख मारी। इस चीख से उसकी आँख खुल गई।

रायबहादुर सो रहे थे। चीख सुनकर जाग पड़े और सुशीला के पास आकर बोले—'सुशीला क्यों?'

सुशीला की देह पसीना-पसीना हो रही थी, हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था, सहमी हुई आवाज़ से बोली—'बड़ा भयानक सपना देखा है। अभी तक छाती धड़क रही है।'

रायबहादुर ने कहा—'सपनों पर बहुत विचार नहीं करना चाहिए।'

'परन्तु मेरा मन डर गया है।'

[४]

उस दिन से सुशीला उदास रहने लगी। वह पूरा यत्न करती थी कि किसी प्रकार सपना भूल जाये, परन्तु वह भूलता न था। उसका स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता गया। रायबहादुर यह देखते थे और कुढ़ते थे। वे उसका जी बहलाने में कोई बात उठा न रखते थे; परन्तु सुशीला की दशा सँभलती न थी। वे उसे बगीचे में ले जाते, सैर कराते, सिनेमा दिखाते, मगर सुशीला का मुर्झाया हुआ हृदय-कमल खिलता न था। वह स्वयं खद्दर पहनती थी, परन्तु यह विचार कि मैंने प्रतिज्ञा पूरी नहीं की, उसका लहू सुखा रहा था। एकाएक उसके कानों में बैठे बैठे वही शब्द गूँज जाते—'तू ने प्रतिज्ञा भङ्ग की है, तेरा भला न होगा।' सुशीला को अपने मस्तक पर मृत्यु की ठण्डी उँगलियाँ लगती प्रतीत होतीं और वह काँपकर रह जाती। रायबहादुर उससे पूछते 'सुशीला तू उदास क्यों रहती है?' सुशीला उनके मुख की ओर देखती और सिर झुकाकर चुप हो जाती। कमल में जल-बिन्दु झलकने लगते। रायबहादुर अधीर होकर कहते—'सुशीला! मुझसे कह। तुझे क्या चिन्ता है?' सुशीला उनके सीने में सिर छिपा लेती और सिसक-सिसककर रो उठती। वह चाहती थी कि सारी घटना पति के सम्मुख कह दे। परन्तु जब कहना चाहती, उस समय कोई शक्ति, कोई

विचार, कोई आशंका उसके होंठों को बन्द कर देती। इसी तरह एक मास के लग-भग गुज़र गया। सुशीला बीमार रहने लगी।

रायबहादुर डर गये। वे चाहते थे कि अब अगर फिर सुशीला विलायती कपड़ों की बात उठाये तो वे ना नहीं करेंगे। वे स्वयं भी इस बात के छेड़ने को तैयार थे। परन्तु उनको साहस न होता था। इस विषय में वे अपने आपको अपराधी समझने लगे थे। सुशीला को खद्दर के वेष में देखकर उन पर घड़ों पानी फिर जाता था। जिस कमरे में कपड़ों के बक्स थे, उसमें जाते हुए रायबहादुर को डर लगता था। जैसे वहाँ साँप बैठे हुए हों। वे चाहते थे कि स्वय भी खद्दर पहनना आरंभ कर दें। परन्तु पहनते हुए डरते थे। इसके लिए उन्हें स्त्री के हठ की, आग्रह की और पथप्रदर्शन की आवश्यकता थी। परन्तु सुशीला अब वह सुशीला न थी। उसके हठ के लिए रायबहादुर तरस गये। आखिर एक दिन उससे बोले –'हरिद्वार चलोगी?'

सुशीला के मुंह पर कुछ चाव-सा दिखाई दिया, परन्तु ठीक ऐसे ही जैसे आसन्नमृत्यु मनुष्य को किसी प्रिय सबन्धी के आने पर हर्ष होता है। धीरे से बोली—'हाँ, चलूँगी।'

रायबहादुर को विश्वास था कि वहाँ चलकर सुशीला का मन बहल जायगा, परन्तु ऐसा न हुआ। सुशीला की हालत वहाँ भी न सँभली। उलटा चिड़चिड़ापन बढ़ गया। रायबहादुर जैसे गये थे वैसे ही वापस आ गये। इस वापसी के साथ ही सुशीला पर हिस्टीरिया ने आक्रमण किया। रायबहादुर पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। पहले-पहल इसका दौरा दूसरे-तीसरे दिन होता था। परन्तु कुछ दिन बाद दिन में तीन-तीन चार-चार बार होने लगा। रायबहादुर दुःख के भँवर में फँस गये। सारा-सारा दिन डाक्टरों को लिये कमरे में घुसे रहते। प्रतिदिन औषधियाँ बदलतीं; परन्तु व्याधि में कोई कमी न होती, यहाँ तक कि डाक्टर निराश हो गये।

एक दिन सुशीला ने कहा—'आप मेरा इलाज बन्द क्यों नहीं कर देते?'

रायबहादुर के नेत्रों में आँसू आ गये। भर्राये हुए स्वर से बोले—'क्यों?'

'मेरा बचना असंभव है।'

'ऐसी बातें न करो। ऐसा ख्याल भी हानि पहुँचाने का कारण हो सकता है।'

इस समय उनका हृदय चूर-चूर हो रहा था।

सुशीला बोली—'आप छिपाते क्यों हैं ? मैं अब बच नहीं सकती।'

'कौन कहता है यह ?'

'डाक्टरों की राय है।'

रायबहादुर अधिक न सह सके, बालकों की नाईं बिलख-बिलखकर रोने लगे। और रुक-रुककर बोले—'तुम अब चंगी हो जाओगी, तो जो कहोगी, मैं वही करूँगा।'

सुशीला पर मूर्छा का दौरा हुआ, रायबहादुर ने गर्म दूध का चमचा उसके मुँह में उँडेलकर कहा—'सुशीला !'

उन्होंने सुशीला की सेवा-शुश्रूषा में दिन रात एक कर दिया। जिस प्रकार सती-साध्वी हिन्दू स्त्रियाँ अपने पति की बीमारी में सेवा करती हैं, उससे अधिक परिश्रम और मन लगाकर रायबहादुर ने सुशीला की शुश्रूषा की, परन्तु उसकी बीमारी न गई। वह दिन पर दिन मृत्यु के निकट पहुँचती गई। मगर इससे वह संतुष्ट-सी हो गई। सुपने का अन्तिम दृश्य उसके लिए शान्तिप्रद था। वह पति को बचाने के लिए समुद्र में कूद पड़ी थी।

आखिर २० दिसम्बर, १९२१ ई० को मध्याह्नकाल में सुशीला भरी जवानी साथ लेकर परलोक सिधार गई। आकाश का एक तारा टूट गया। उस समय उसका हृदय शान्त था, कानों में वह शब्द न गूँजते थे—'तेरा भला न होगा।' अपनी बलि देकर उसने पति को बचा लिया।

[५]

रायबहादुर का संसार अन्धकारमय हो गया, कई दिन तक कमरे से बाहर न निकले। आँखें सूज गई थीं, मुँह उतर गया था। उनको रह-रहकर यही ख़्याल आता था कि सुशीला का घातक मैं हूँ। मैंने रुपये का मुँह देखा, स्त्री को हाथ से खो दिया। प्रायः सोचते, यदि कपड़े जल जाते तो यह दुर्दिन देखने में न आता। ऐसी सती दीपक लेकर ढूँढ़ने से भी न मिल सकेगी। लोग शोक प्रकट करने आते, तो उत्तर देते—'उसका घातक मैं हूँ। वह मेरे कारण मरी है।'

दोपहर का समय था। रायबहादुर स्त्री का क्रियाकर्म करवाने में लीन थे। उनके नेत्रों से आँसू गिर रहे थे। सोचते थे, क्या अब उसकी सूरत दिखाई न देगी। वह हँसमुख चेहरा, वे मृगछौने की-सी आँखें, वह अल्हड़पन, वह कटाक्ष, वह हठ, वह भोलापन क्या सबकी समाप्ति हो गई? एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह बरामदे में खड़ी बुला रही है। रायबहादुर के कलेजे में छुरियाँ गड़ गईं। उनका हृदय खून के आँसू रोने लगा। क्रिया-कर्म समाप्त हो गया, रायबहादुर ने पूछा—'अब कुछ काम बाक़ी तो नहीं रह गया?'

आचार्य ने उत्तर दिया—'नहीं।'

एकाएक देवीचन्द खड़े हो गये और बोले—'नहीं, एक काम अभी बाक़ी है।'

आचार्य ने साश्चर्य पूछा—'कौन-सा?'

'ज़रा ठहर जाओ।'

रायबहादुर ने जाकर कपड़ोंवाला कमरा खोला। चारों ओर शोक छा रहा था, परन्तु रायबहादुर ने इस ओर ध्यान न दिया। उन्होंने जल्दी-जल्दी बक्स खोले। उनका कलेजा काँपने लगा। बक्सों में कपड़ों की गठरियाँ बँधी हुई थीं। कौन कह सकता था कि इनके बाँधनेवाले सुन्दर हाथ इतनी जल्दी आग की भेंट हो जायेंगे। रायबहादुर का हृदय चचल हो उठा, नेत्रों से आँसू बहने लगे। रोते हुए गठरियों को उठा-उठाकर आँगन में ले आये। लोगों में धीरे-धीरे बातें होने लगीं।

आचार्य ने पूछा—'इनको क्या किया जायगा?'

'इनकी होली मनाई जायगी। यह स्वर्गीया... की सबसे बड़ी अभिलाषा थी।'

लोगों की आँखें खुली रह गईं। उन्होंने वह सुना, जो सुनने का उन्हे ख्याल भी न था। परन्तु रायबहादुर बारम्बार कह रहे थे—'यह उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा थी।'

इतने में नौकर सामने आया। वह भी रो रहा था। सुशीला उस पर बड़ी दया रखती थी। उसे याद कर-करके उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। रायबहादुर ने उससे कहा—'जाओ, जाकर घर से एक-एक विलायती कपड़ा चुन लाओ। मेरा कपड़ा भी कोई न रहे। मैं सबको जलाकर राख कर दूँगा।'

लोगों ने यह सुना तो उन पर जादू-सा हो गया। उन्होंने चिल्लाकर कहा—'भारतमाता की जय'।

सड़क पर से एक अंग्रेज जा रहा था। वह इस भीड़ को देखकर और 'भारतमाता की जय' सुनकर खड़ा हो गया। परन्तु रायबहादुर ने परवा न की। सुशीला की मृत्यु ने उनको निर्भय बना दिया था।

सायंकाल था, देव-भवन में कपड़ों की होली जलाई गई। रायबहादुर के पास हृदय की शान्ति की यही अन्तिम साधन रह गया था। रात को उन्होंने स्वप्न देखा, सुशीला मुस्कराती हुई दिखाई दी। इसके बाद सो न सके, सारी रात जागते रहे। हृदय का दुःख कुछ हलका हो गया था।

———

सुभद्रा का उपहार

[१]

लायलपुर के लाला ठाकुरदास मचिदा कुछ इतने धनवान न थे, परन्तु खर्च बहुत करते थे। 'चादर देखकर पाँव फैलाओ' की कहावत पर उनको विश्वास न था। वे कहा करते थे, मनुष्य को चाहिए, अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाता चला जाये, आमदनी अपने आप बढ़ती चली जायेगी। इस युक्ति को सार्थक करने के लिए वे अंग्रेज़ी की कहावत 'आवश्यकता आविष्कार की मा है' को प्रायः सम्मुख रखा करते थे। उनका खान-पान, रहन-सहन, चलना-फिरना सब अपनी स्थिति से बढ़कर था। उनका जीवन फैशन का जीवन था। जब उनके पिता का देहान्त हुआ, उस समय वे मध्यम श्रेणी के नागरिक थे। परन्तु उसके बाद उन्होंने अपना ठाट बदल लिया। जुलाई-अगस्त के प्रचण्ड गर्मी के दिनों में भी गर्म वस्त्र पहन रहते—साहब लोग ऐसा ही करते हैं। और नेकटाई-कालर के बिना तो घर से बाहर पाँव भी न रखते थे। शायद उनको यह विश्वास हो गया था कि नगर के सब लोगों को इसके सिवा और कोई काम ही नहीं है कि यह देखें कि मचिदा साहब ने नेकटाई और कालर पहने हैं वा नहीं। उनकी आँखें कमजोर न थीं, परन्तु ऐनक लगाते थे—इससे उनको सुन्दरता बढ़ जाती थी। सिगरेट भी वे इसी विचार से पीने लगे थे। यद्यपि यह

उनकी प्रकृति के अनुकूल न था। परन्तु इसको गिनती फैशन के अन्दर है, यह सोचकर वे बाजार में निकलते तो सिगरेट सुलगा लेते। कश लगाकर उनका दिमाग स्वर्ग में पहुँच जाता था।

उनके पिता महाजनी करते थे। इस व्यापार में उन्होंने चार पैसे पैदा किये थे। परन्तु मिस्टर मचिंदा को यह काम पसन्द न था। उन्होंने आमदनी (Import) और रफ्तनी (Export) की एक एजेंसी खोली थी और विलायती समाचारपत्रों में बहुत बड़े-बड़े विज्ञापन देते थे। बड़ा भारी दफ़तर था, तीन-चार क्लर्क, एक चपरासी, एक चौकीदार। इतना खर्च तो बढ़ा लिया था, मगर आप काम में मन न लगाते थे। इसकी अपेक्षा सायंकाल हार्डिंग क्लब में जाना उनको अधिक रुचिकर था और इतना ही नहीं, वे पार्टियाँ देने में भी बहुत बढ़े-चढ़े थे। इससे उनको हार्दिक आनन्द मिलता था। रुपये-पैसे को वे हाथ की मैल समझते थे।

इसी प्रकार दो वर्ष निकल गये। मिस्टर मचिंदा का व्यवसाय उन्नत न हुआ। हाँ, उनके पास जो चार पैसे थे वे नष्ट हो गये। कोई और होता तो शायद हिम्मत हार देता; मगर मिस्टर मचिंदा ने अंग्रेजी व्यापार की पुस्तकें पढ़ी थीं। वे जानते थे कि व्यापार में मन नहीं हारना चाहिए। उसी तरह डटे रहे। उनके ताऊ लाला मेघराज धनी आदमी थे। उनका व्यापार बहुत विस्तृत था। मिस्टर मचिंदा ने उनसे सहायता माँगी। उनके पिता ने कई अवसरों पर लाला मेघराज की सहायता की थी, इसलिए उन्होंने पाँच सौ रुपये का चेक दे दिया। खून का संबन्ध था, रसीद की भी आवश्यकता न समझी गई। इसके बाद रास्ता खुल गया। जब ज़रूरत होती, आदमी भेजकर चेक मँगवा लेते। यहाँ तक कि मिस्टर मंचिंदा की तरफ तीन हज़ार रुपया हो गया। और व्यवसाय उसी तरह घाटे पर चलता रहा। अब मिस्टर मचिंदा को कुछ-कुछ चिन्ता होने लगी।

[२]

रात का समय था, लाला मेघराज मिस्टर मंचिंदा की बैठक में पहुँचे। इस समय वहाँ मित्र-मण्डली हँस-खेल रही थी। लाला मेघराज पुराने ढंग के आदमी थे।

उनका इस समय का आना मिस्टर मंचिंदा को बहुत अखरा; परन्तु धीरज से बोले—'अहह ! आज तो बड़े सौभाग्य का दिन है। कहिए, अच्छे तो हैं ?'

लाला मेघराज ने उत्तर दिया—'जी हाँ ! परमात्मा की कृपा है।'

'आज्ञा कीजिए।'

लाला मेघराज अपने रुपये के लिए आये थे, मित्र-मण्डली देखकर असमंजस में पड़ गये, फिर धीरे से बोले—'एक मिनट के लिए आप मेरी बात बाहर चलकर सुन लेंगे ?'

मिस्टर मंचिंदा सब बात समझ गये, कलेजा धक-धक करने लगा। मगर साहस बाँधकर उत्तर दिया—'आइए ! बड़ी खुशी से।'

पास के कमरे में पहुँचकर लाला मेघराज ने कहा—'कहते हुए लज्जा आती है, पर क्या करूँ ? ज़रूरत आ पड़ी है। नहीं तो कभी न कहता। मुझे रुपया चाहिए।'

मिस्टर मंचिंदा का सन्देह ठीक निकला, हृदय में चिन्ता ने सिर उठाया। जब तक लेते जाते थे, तब तक उन्होंने कभी देने का ख्याल तक न किया था। ऐसे आदमियों की कमी नहीं जो उधार को आमदनी समझ लेते हैं। मिस्टर मंचिंदा उन्हीं में से एक थे। देने का नाम सुनकर उनके चेहरे का रंग बदल गया। परन्तु अन्धेरे ने लाज रख ली। धीरे से बोले—'कब तक चाहिए ?'

'एक मास तक।'

मिस्टर मंचिंदा के प्राणों में प्राण आ गये। अपराधी मनुष्य के लिए अवधि ईश्वरीय अनुग्रह से कम नहीं। उन्होंने शान्ति की साँस ली, और उत्तर दिया—'प्रबन्ध हो जायगा। आप चिन्ता न करें।'

'बस, इतना ही कहने आया था। अब चलता हूँ।'

'भोजन का समय है, कुछ खाते जाइए।'

'नहीं, इस समय बहुत जल्दी है।'

लाला मेघराज चले गये। मिस्टर मंचिंदा अपने मित्रों में पहुँचे। एक ने छूटते ही प्रश्न किया—'क्या कहता था ?'

मनुष्य अपनी कङ्गाली नहीं छिपाता, परन्तु यह मानते हुए उसका सिर झुक

जाता है कि मुझे किसी का कुछ देना है। मिस्टर मंचिंदा कहते-कहते रुक गये। मन में एक नया विचार उठा, हँसकर बोले—'कुछ रुपया माँगते हैं।'

दूसरे मित्र ने आश्चर्य से कहा—'अच्छा! बाहर तो धन्ना सेठ बने फिरते हैं।'

तीसरा बोला—'इतना व्यापार है!'

चौथे ने कहा—'पर आज पोल खुल गया।'

मिस्टर मंचिंदा ने मुँह बनाकर उत्तर दिया—'संसार में ऐसा होता ही रहता है। किसको दूसरे की ज़रूरत नहीं होती।'

एक मित्र ने कहा—'हाँ, ज़रूरत पड़ गई होगी।'

तीसरे ने कहा—'वर्ना सेठ तो सचमुच बड़े हैं।'

चौथा बोला—'उनके जोड़ का आदमी सारे लायलपुर में नहीं।'

यह विचार-परिवर्तन मिस्टर मंचिंदा के लिए नया था। ठकुर-सुहाती की चरम सीमा इसको कहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लाला मेघराज ने बाहर निकलते-निकलते यह बातचीत सुन ली। उनकी आँखें क्रोध से लाल हो गईं; 'कैसा कृतघ्न है, मैंने एकान्त में बात की है। अगर चाहता तो सबके सामने इज्ज़त उतारकर रख देता। परन्तु इसने इसका भी विचार नहीं किया, उल्टा कह रहा है, उधार लेने आया था।'

इस समय उनके मन में एक सन्देह उत्पन्न हुआ, 'क्या मेरा रुपया मिलेगा भी?'

तीन महीने बीत गये, लाला मेघराज को रुपया न मिला। मिस्टर मंचिंदा प्रतिज्ञा पर प्रतिज्ञा करते गये, यहाँ तक कि लाला मेघराज को विश्वास हो गया कि नालिश किये बिना काम न चलेगा। उस समय पछताने लगे, कि कैसी मूर्खता की जो प्रोनोट भी न लिखा लिया। अब अगर अदालत में इनकार कर दे तो मेरी क्या चलेगी? तीन हज़ार रुपये हैं, छोड़ देना भी सहज बात नहीं। वकील के पास जाकर बोले—'मुकदमा कमज़ोर तो नहीं?'

वकील ने सारा मामला सुनकर पूछा—'यह रुपया आपकी बहियों में दर्ज है?'

लाला मेघराज का मुँह खिल उठा। कुरसी आगे खसकाकर बोले—'हाँ।'

'कोई आपका गवाह है ?'

'हाँ।'

'मिस्टर मचिंदा के हाथ की कोई तहरीर है, जिसमें इन रुपयों का जिक्र हो ?'

'वे रुक्के पड़े हैं जो भेजकर रुपया मँगवाते रहे हैं।'

'क्या लिखा है ?'

'यही कि इतना रुपया भेज दीजिए और बही में दर्ज कर लीजिए।'

वकील साहब ने कुछ सोचा और फिर बोले—'मुकदमा है तो कमज़ोर, परन्तु आशा है, हम जीत जायेंगे।'

वकील साहब को आशा अधिक न थी, परन्तु क्या कहते ? वकीलों की यही रीति है।

'आप पूरा-पूरा यत्न करेंगे ?'

वकील साहब ने उत्तर दिया—'मैं जान लड़ा दूँगा।'

'तो नालिश कर दी जाये ?'

'इसके सिवा और उपाय ही क्या है ?'

अदालत में दावा हो गया। मिस्टर मंचिदा के पास समन पहुँचा। उनको यह ख्याल न था कि बात यहाँ तक बढ़ जायेगी। दौड़े-दौड़े एक वकील मित्र के पास गये और सारा वृत्तान्त सुनाकर बोले—'मित्र! तुम्हीं बचाओ, नहीं तो मैं तबाह हो जाऊँगा।'

वकील साहब ने लबी-चौड़ी जिरह की और बोले—'तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं हो सकता।'

'मेरे रुक्के उनके पास हैं।'

'कोई परवा नहीं, कानून उनको एक पाई भी नहीं दिला सकता। अब एक काम करो।'

'क्या ?'

'अपना मुंशी मेरे पास भेज दो। मैं उसे कुछ समझाऊँगा।'

मिस्टर मंचिदा ने अपना मुंशी भेज दिया।

[३]

दावा हो गया। लोगों को एक नई बात हाथ आ गई, सारे शहर में शोर मच गया। लोग कहते थे, देखें फैसला क्या होता है और न्याय का पलड़ा किधर झुकता है! वैसे सभी समझते थे कि मेघराज सचाई पर हैं। यह बातें खुद मिस्टर मंचिंदा के घर से निकली थीं। उनकी स्त्री ने कई सखी-सहेलियों से कहा था कि काम-धन्धे में घाटा है सिर पर क़र्ज़ चढ़ गया है। परन्तु अदालत में जाकर क्या होता है, यह देखने के लिए सभी उत्सुक थे। मुक़दमा भी कुछ निराला-सा था। वकील इस्तगासा ने हिसाब-किताब के रजिस्टर और रुक्के पेश किये और प्रोनोटों की कमी को अपने वाक्चातुर्य से पूरा करने का प्रयत्न किया। परन्तु मंचिंदा के बयान ने मुक़दमे का रंग ही बदल दिया। उन्होंने कहा—'आज तो दिलों में फेर पड़ गया है, परन्तु पहले ऐसा न था। हमारा बर्ताव बहुत अच्छा था। हमको किसी पर अविश्वास न था। हजारों का लेन-देन जबान ही पर हो जाता था। मैं मानता हूँ, कि लाला मेघराज से मैंने कई बार रुपया मँगवाया, परन्तु आवश्यकता पूरी हो जाने पर पाई-पाई वापस कर दी। अब उनका एक पैसा तक मेरे ज़िम्मे नहीं है।'

वकील ने कहा—'आप जब रुपया वापस देते थे तो रसीद लेते थे?'

मिस्टर मचिंदा ने उत्तर दिया—'इसकी आवश्यकता ही न थी।'

'क्यों?'

'क्योंकि घर का-सा मामला था। लाला मेघराज मुझसे प्रोनोट न लिखवाते थे, मैं रसीद न लेता था।'

'यह रकमें रजिस्टर में तो जमा होंगी?'

'पाई-पाई।'

रजिस्टर देखे गये। हिसाब साफ़ था। लेन-देन सब ठीक दर्ज था। मुंशी भी पेश हुआ। उसने स्वीकार किया कि यह रकमें मेरे हाथ की दर्ज की हुई हैं। दो-तीन बार रुपया मेरे सामने लाला मेघराज को भेजा गया था।

वकील ने पूछा—'तो आपसे बिगाड़ कैसे हुआ?'

मिस्टर मंचिंदा बोले—'झगड़ा हो गया।'

'झगड़े का कारण क्या हुआ ?,

'यह एक घरेलू मामला था, इसके प्रकट करने की आवश्यकता नहीं।'

'आवश्यकता क्यों नहीं ? यह बड़ा आवश्यक प्रश्न है।'

परन्तु अदालत ने इसे प्रकरण विरुद्ध कहकर आज्ञा न दी।

'झगड़े के बाद क्या हुआ ?'

'लाला मेघराज ने धमकी दी, कि मैं तुमसे समझ लूँगा।'

'यह झगड़ा हाथापाई तक पहुँचा था ?'

'नहीं, केवल गाली-गलौज तक (Harsh words exchange) हुए थे।'

'यह झगड़ा कहाँ हुआ था ?'

'मेरे मकान के बाहर बाज़ार में।'

'किस समय ?'

मिस्टर मंचिंदा ने कुछ सोच-विचारकर उत्तर दिया—'साँझ हो चुकी थी।'

'उस समय वहाँ कोई और भी था ?'

'हाँ, पन्द्रह-बीस आदमी थे।'

'उन्होंने आपका झगड़ा रोकने का प्रयत्न किया ?'

'यह झगड़ा नहीं था, मैं पहले ही कह चुका हूँ।'

'अच्छा झगड़ा न सही, गाली-गलौज सही, इसको रोकने का किसी ने यत्न किया था ?'

'नहीं, वे चुपचाप खड़े देख रहे थे।'

'क्यों देख रह थे ?'

'क्योंकि उनका हम दोनों के साथ संबन्ध है।'

'उनके नाम लिखा सकते हैं ?'

मिस्टर मंचिंदा ने कुछ नाम लिखवा दिये।

'उनकी गवाही आवश्यक है।'

मिस्टर मंचिंदा ने अदालत की ओर मुँह करके उत्तर दिया—'जब हुक्म हो, हाज़िर हो सकते हैं।'

अदालत का इजलास मुल्तवी हुआ। मिस्टर मचिंदा की जान में जान आई। उनको यह आशा न थी कि मुकदमा इतनी आसानी से जीत सकूँगा। परन्तु कानून की लचक ने उनको विजय दिलवा दी। मुकदमे का अभी फैसला न हुआ था, परन्तु उनकी विजय निश्चित थी। दूसरी पेशी पर गवाह हाजिर हुए। उनकी गवाही ने मिस्टर मचिंदा के बयान पर सचाई की मोहर लगा दी। अदालत ने मुकदमा खारिज कर दिया।

[४]

मिस्टर मचिंदा का मुँह कानों तक लाल हो गया। वे गद्गद हो रहे थे। बाहर निकले तो सुहृद-मित्रों ने बधाई दी। परन्तु साधारण लोग उनके साथ न थे। वे उनको खोटा समझते थे। एक दूसरे से कहता—'अनर्थ हुआ है। दिन-दहाड़े लाला पर डाका पड़ गया और अदालत मुँह देख रही है।'

एक आदमी ने कहा—'यह अदालत गवाहियों पर ही चलती है, या कुछ सोचती-समझती भी है?'

दूसरे ने उत्तर दिया —'गवाही अगर यह सिद्ध कर दे, कि तुम यहाँ नहीं हो तो अदालत इसे ही मान लेगी।'

'तो अदालत से लाभ क्या हुआ?'

'यहाँ न्याय रुपये के तोल बिकता है। जो ज़्यादा वकील करे, जो ज़्यादा रुपया खर्चे उसी की जीत है।'

लाला मेघराज भर्राये हुए स्वर से बोले—'अदालत ऐसी हत्या करेगी, मैं यह नहीं समझता था। मेरा मन तो खट्टा हो गया!'

एक आदमी बोला—'तभी तो महात्मा गांधी कहते हैं कि अदालतें छोड़ दो।'

लाला मेघराज ने आँसू पोंछते हुए पूछा—'झगड़ों का फैसला कौन करेगा!'

'जातीय पंचायतें।'

लाला मेघराज साहूकारी किया करते थे; परन्तु मुकदमे करना उन्हें पसन्द न था। सीधा-सादा स्वभाव था, शुद्ध हृदय, अदालतों पर उनको पूरा विश्वास था। वे समझते थे, कि वहाँ दूध का दूध पानी का पानी हो जाता है। अपनी रकम डूबती देखकर

उनके हृदय पर बड़ी चोट लगी। साथ ही आँखें भी खुल गईं। अदालत की ओर से जी खट्टा हो गया। वे सोचते थे, मिस्टर मंचिदा ने लाख बात बनाई, गवाह पक्के किये, परन्तु उनका मुँह साफ़ कह रहा था कि उनको अपनी बात पर आप विश्वास नहीं। मगर अदालत ने इस ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। गवाहों ने जो कुछ कहा उसे ही मान लिया। मुझे इसका ज्ञान न था, अन्यथा मैं भी शायद इतना ही ढोंग रच लेता और झूठी गवाहियाँ बना लेता। इन विचारों से उनके हृदय में हलचल मच गई। महात्मा गांधी का विचार उनके हृदय-पट पर अङ्कित हो गया, जोश से बोले—'मैं आज से अदालत में न जाऊँगा। यहाँ न्याय नहीं होता, न्याय का तमाशा होता है।'

लोगों ने सुना तो हैरान होकर उनका मुँह ताकने लगे। एक आदमी ने आगे बढ़कर कहा—'लालाजी! आप धन्य हैं। यहाँ सैकड़ों आते हैं और घर लुटाकर चले जाते हैं, परन्तु उनके हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता। मानो वे वाटरप्रूफ कपड़ा हों, जिस पर पानी पड़ता है और फिसल जाता है; परन्तु कपड़ा गीला नहीं होता।'

लाला मेघराज इस समय जोश में थे। उन्होंने कहा—'महाजनी करते हुए सारी आयु बीत गई, मगर यह पता न था, कि आजकल अदालतों में न्याय के नाम पर इस प्रकार अन्धेर भी हो सकता है। तीन हज़ार गया तो क्या हुआ, भविष्य के लिए आँखें तो खुल गईं। आज से मेरे पैर अदालतों में न आयेंगे।'

जोश में आया हुआ आदमी आगा-पीछा नहीं सोचता। लाला मेघराज भी इस समय जोश में थे। उन्होंने जेब से कई स्टाम्प निकाले और पुर्जे-पुर्जे करके फेंक दिये। आज एक और मुकदमे की भी पेशी थी, जिसमें लालाजी वादी और एक देहाती केसर सिंह प्रतिवादी था। मुकदमा सवा सौ रुपये का था। लाला मेघराज ने उसका कागज भी फाड़कर फेंक दिया और उसे बुलाकर बोले—'तुम्हारा कागज मैंने फाड़ दिया है। अब चाहे रुपया दो चाहे न दो। मैं मुकदमा न करूँगा।'

केसर सिंह अनपढ़ जाट था। उसका हृदय हर्ष से नाचने लगा। मतवाला

होकर रोता हुआ लालाजी के पैरों पर गिर गया और बोला—'मैं आपका पैसा-पैसा चुका दूँगा। निर्धन हुआ तो क्या हुआ, परन्तु मन का खोटा नहीं।'

लोगों की विचित्र-सी दशा हो रही थी। ऐसे पवित्र दृश्य इस ईर्ष्या और द्वेष से भरी हुई दुनिया में कभी-कभी दिखाई देते हैं। उनको ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई स्वप्न देख रहे हों। एक आदमी ने आगे बढ़कर कहा—'भई, धर्म भी तो कोई वस्तु है!'

मिस्टर मंचिंदा थोड़ी दूर खड़े यह बातें सुनते थे। लोभ के फ़ौलादी पंजे में फंसा हुआ धर्म इस प्रकार फड़कने लगा, जैसे भोला-भाला पक्षी कसाई की छुरी तले फ़ड़कता है। उनके दिल में सहस्रों विचार फिर गये। वे समझते थे, मुकदमा जीत-कर प्रसन्नता होगी, परन्तु यह आशा पूरी न हुई। लोगों की आँखों को देखकर उनका सिर झुका जाता था। हर एक आदमी उनकी ओर घृणा की दृष्टि से देख रहा था। फिर भी उनको इस बात की खुशी थी, कि तीन हज़ार की रकम बच गई। परन्तु केशर सिंह की सच्चाई का पवित्र दृश्य देखकर उनका धीरज जाता रहा। उन्होंने सोचा, यह अनपढ़ है, मेरे जैसे मनुष्य उसे मूढ़ कहने से भी नहीं झिझकते। मगर सच्चाई से नहीं हटा। उसकी धर्म-भावना के सामने मेरा पाप-कर्म कितना भयानक है? उनका हृदय चञ्चल हो उठा, धर्म और लोभ का युद्ध होने लगा। सहसा मिस्टर मचिंदा आगे बढ़े। इस समय उनका मुख-मण्डल इन्द्रधनुष की मूर्ति था। लोगों ने रास्ता छोड़ दिया। वे सीधे लाला मेघराज के सामने पहुँचे, और उनके पावों पर गिर पड़े।

लाला मेघराज के आश्चर्य का ठिकाना न था। उन्होंने नीचे झुककर कहा—'अब क्या कहते हो, मुकदमा तो जीत गये?'

मिस्टर मंचिंदा ने चोट खाये सर्प की तरह सिर ऊँचा किया और उत्तर दिया—'परन्तु धर्म तो हार गया!'

लोग अवाक् खड़े रह गये। उनको मिस्टर मंचिदा से इस बात की रंचकमात्र भी आशा न थी। वे उनकी ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। मिस्टर मंचिंदा

ने रो-रोकर कहा—'अदालत ने मेरे पक्ष में फैसला दे दिया है। परन्तु सच्चाई इससे कोसों दूर है। मैं आपका रुपया देना स्वीकार करता हूँ।'

लोगों में बिजली-सी दौड़ गई। उन्होंने चिल्लाकर कहा—'बोलो धर्म-भाव की जय!'

[५]

रात का समय था। मिस्टर मचिंदा लाला मेघराज के मकान पर पहुँचे और सिर झुकाकर बोले—'आपका रुपया लाया हूँ।'

लाला मेघराज उछल पड़े। उनको यह आशा न थी कि यह डूबी हुई रकम इस तरह आसानी से मिल जायगी। उन्होंने पूछा—'कहाँ से प्रबन्ध किया?'

'परमात्मा ने किसी तरह कर दिया।'

'नहीं, यह तुम्हें बतलाना पड़ेगा।'

'स्त्री के गहने बेचे हैं।'

लाला मेघराज की खुशी मर गई।

उनको मिस्टर मचिंदा की स्त्री से पैत्रिक स्नेह था। वे उसे पुत्री के समान प्यार करते थे। उसके भूषणों का बिकना सुनकर उनका चित्त उदास हो गया। वे जानते थे कि सुभद्रा को गहनों का बड़ा चाव है। वह अपना एक-एक गहना देखकर झूमने लग जाती और घंटों ही उनको चाव से देखती रहती थी। लाला मेघराज ने सोचा, अब उसका मन क्या कहता होगा? मुझे अपना रुपया तो चाहिए, परन्तु इतनी निर्दयता न होगी।

उनका दिल भर आया। रुपया लेकर उनको वह प्रसन्नता न हुई जिसकी उनको आशा थी। स्त्री से सलाह की। उसने भी यही कहा, और बोली—'संसार में क्या रुपया ही सब कुछ है!'

दूसरे दिन प्रातःकाल लाला मेघराज मिस्टर मचिंदा के मकान पर पहुँचे। उस समय वे चारपाई पर बैठे हुए किसी गहरी चिन्ता में निमग्न थे। पास ही उनकी स्त्री सुभद्रा बैठी हुई थी। उसका मुँह भी उदास था। लाला मेघराज को देखकर दोनों खड़े हो गये। उन्होंने पूछा—'क्या सोच रहे हो?'

मिस्टर मंचिंदा ने उत्तर दिया—'कारोबार के विषय में कुछ सोच रहा हूँ।'

'मगर फिर भी क्या ?'

'यही कि इसे बन्द कर दिया जाये।'

'फिर क्या करोगे ?'

'मकान बेच दूँगा और कोई और काम आरंभ कर दूँगा।'

लाला मेघराज ने ठण्डी साँस भरी और कहा—'इससे बड़ी निन्दा होगी। हमारे कुल को कलङ्क लग जायगा।'

सुभद्रा ने उत्तर दिया—'परन्तु इसके सिवा उपाय ही क्या है ?'

लाला मेघराज बोले—'मैं कहूँ ?'

मिस्टर मंचिंदा ने आगे बढ़कर कहा—'फरमाइए !'

'रुपया मैं लगाता हूँ, काम तुम करो। मेरा विचार है, खादी का व्यापार आरंभ कर दो। मैं तुम्हें १५०) रु० वेतन दूँगा और...।'

'और क्या ?'

'जो लाभ होगा उसका आधा भाग।'

डूबते हुए मचिंदा को किनारा मिल गया। एकाएक उन्हें अपनी नीचता याद आ गई। हृदय लज्जा से काँपने लगा, सिर झुकाकर बोले—'मैं इस योग्य नहीं।'

'यह शब्द फिर न कहना। मैं अब फिर तुम्हें वही बेटा समझता हूँ। बोलो, स्वीकार है ?'

मंचिंदा की आँखों में आँसू थे। सुभद्रा ने कहा—'यह मिलाप देखकर मेरा हृदय खिल गया है।'

मिस्टर मचिंदा बोले—'यह सब इसी देवी के प्रयत्नों का फल है। यदि यह अपने गहने हँसते-हँसते मेरे सामने न फेंक देती तो मैं रुपये का प्रबन्ध कदापि न कर सकता।'

[६]

आध घण्टे के बाद लाला मेघराज का पुत्र एक पिटारी लिये आया। उस पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—

"सुभद्रा का उपहार"

सुभद्रा ने उसे जल्दी से खोला तो हैरान रह गई। उसमें सारे आभूषण थे। लाला मेघराज सराफ से रुपया देकर खरीद लाये थे। उसमें एक छोटा-सा पत्र था—

'यह उपहार सुभद्रा के लिए है—मैं यह रुपया फिर ले लूँगा।'

सुभद्रा आभूषण पहनने बैठी। इतने में मिस्टर मंचिंदा अन्दर आये और आश्चर्य से बोले—'यह क्या ?'

सुभद्रा ने कागज का टुकड़ा उनके हाथ में दे दिया। मंचिंदा की आँखों में आनन्द के आँसू आ गये, धीरे से बोले—'मुझे यह ख्याल न था कि वे इतने उदार होंगे।'

जब आँखें खुलती हैं

—नाटक—

—०—

पात्र-परिचय

तारा—एक वेश्या

रामप्यारी—तारा की सहेली।

भोली—तारा की बहरी दासी।

दिलावर सिंह—तारा का दोस्त।

हरचरण सिंह, रामपाल, अहमद हसन—स्वयं-सेवक।

स्वामी आत्मानन्द—एक संन्यासी।

—:०:—

पहला दृश्य

स्थान—एक सुन्दर भवन का सुसज्जित कमरा।

समय—रात।

[तारा गाल पर अँगुली रखे आरामकुर्सी पर लेटी हुई है। भोली उसके सामने फर्श पर बैठी सुपारियाँ कतर रही है। तारा किसी गहरे सोच में निमग्न है। इतने में रामप्यारी अन्दर आती है, तारा चौंककर सिहर उठती है।]

तारा—

क्या वह अभी तक नहीं गये?

रामप्यारी—

नहीं।

तारा—

और अभी तक जाग रहे हैं?

रामप्यारी—

हाँ, उनके कहकहों की आवाज़ें मेरे कमरे तक पहुँच रही हैं।

तारा—

आज दिलावर सिंह ने आने को कहा था, वह भी नहीं आया।

रामप्यारी—

संभव है, आया हो, परन्तु लौट गया हो।

तारा—

यह असंभव है। दिलावर सिंह ऐसा आदमी नहीं है।

भोली—

(उच्च स्वर से) दिलावर सिंह का क्या ज़िक्र करती हो? वह आज आया था। मैं कहना भूल गई।

तारा—

कमबख़्त ! तू हर बात भूल जाती है, (ऊँची आवाज़ से) कब आया था ?

भोली—

दोपहर को आया था । मगर वापस चला गया ।

तारा—

क्यों वापस चला गया ?

भोली—

तो इन्होंने देखा नहीं ?

रामप्यारी—

नहीं, तमाम हाल सुना दो ।

भोली—

(तारा की ओर देखकर ऊँची आवाज़ से)—वह आया था, लड़कों ने उसे रोक लिया । बड़ी देर तक झगड़ा होता रहा, आख़िर उसने उन्हें धक्का देकर हटा दिया, और कहा, मैं अवश्य जाऊँगा । इस पर वे लौंडे रास्ते में लेट गये । दिलावर सिंह ने कुछ देर तक उनके साथ कुछ बातचीत की, परन्तु फिर (पान देकर) वापस चला गया ।

तारा—

(लंबी साँस लेकर) ओह ! परमात्मा !

भोली—

बड़े ख़राब लड़के हैं । मुझको देखकर हँसते हैं । यह नहीं सोचते, कि कभी मैं भी जवान थी ।

रामप्यारी—

लो, कमबख़्त को फिर अपनी जवानी याद आ गई ।

भोली—

गालियाँ देती है, झाड़ू मार-मारकर मुँह लाल कर दूँगी ।

रामप्यारी—

अपने मुँह पर मार !

भोली—

क्या कहा ? मेरा मुँह ख़राब है ! वाह री ! इन्द्र के अप्सरा !

रामप्यारी—

कमबख़्त अपने आपको अभी तक जवान समझती है। जाकर मुँह धो आ।

भोली—

यह कौन कहता है कि मैंने मुँह नहीं धोया।

तारा—

(ऊँची आवाज से) भोली ! जा, दूसरे कमरे में चली जा।

भोली—

तू भी इसी का पक्ष करती है, यह बड़ी बदमाश है।

तारा—

अच्छा जा ! मेरा सिर न खा।

भोली—

बहुत पान कौन खाता है, मेरा मुँह जल जाये, जो—

तारा—

(ऊँची आवाज़ से) मैंने कहा है, दूसरे कमरे में चली जाओ।

(भोली का चला जाना)

तारा—

मैं हैरान हूँ, अब क्या होगा ?

रामप्यारी—

मैं तो आप कुछ नहीं समझ सकती।

तारा—

यह पहरा लगे कितने दिन हो गये ?

रामप्यारी—

कल सुबह चार दिन हो जायेंगे।

तारा—

भले घरों के लड़के हैं। हमने गर्म पानी फेंका, उन्होंने सी तक नहीं की। हमने पत्थर मारे, वे चुप रहे। हमने गालियाँ दीं, वे हँसते रहे। अब और क्या उपाय बाकी है ? मालूम होता है, हमें भूखों मरना होगा। रामप्यारी !

रामप्यारी—

कहिए।

तारा—

कुछ तू ही सलाह दे, क्या करूँ ?

रामप्यारी—

मानोगी ?

तारा—

जो मानने योग्य होगी, तो क्यों न मानूँगी। बता क्या कहती है ?

रामप्यारी—

इनका कप्तान बड़ा खूबसूरत है।

तारा—

फिर ?

रामप्यारी—

फिर मेरी तो यह सम्मति है कि उसके साथ ब्याह कर लो, पहरा हट जायेगा

तारा—

यह हँसी का समय नहीं, मेरे जीवन-मरण का सवाल है।

रामप्यारी—

तो अब रोने से क्या बन जायेगा ?

[तारा उठकर कमरे में टहलती है। एकाएक रुक जाती है, फिर टहलती है। फिर रुकती है और रामप्यारी की ओर देखती है। क्लाक ग्यारह बजाता है।]

तारा—

ग्यारह बज गये ! क्या अब भी उनकी आँखों में नींद नहीं ?

रामप्यारी—

वे बारी-बारी से सारी रात जागते रहते हैं।

तारा—

मुझे एक बात सूझी है।

रामप्यारी—

क्या ?

तारा—

मैं उनसे बातचीत करूँगी, और उनको मनवा लूँगी कि यह उनकी भूल है। मुझे निश्चय है कि इसमें कुछ भी हानि नहीं।

रामप्यारी—

परन्तु उनको आप मनवा सकेंगी !

तारा—

हाँ ! मैं समझती हूँ, मैं मनवा सकूँगी।

रामप्यारी—

ऐसा हो जाये तो और क्या चाहिए, अवश्य यत्न कीजिए।

तारा—

तो तुम जाकर उनके कप्तान को—मेरा मतलब है, किसी एक को बुला लाओ।

रामप्यारी—

(हँसकर) बहुत अच्छा।

[रामप्यारी जाती है। तारा उठकर जल्दी-जल्दी अपनी सबसे बढ़िया पोशाक पहनती है, और दर्पण के सामने खड़ी हो जाती है। सहसा पाँवों की चाप सुनाई देती है। तारा चौंककर कुरसी पर बैठ जाती है, और रूमाल पर फूल बनाने लगती है।]

[रामप्यारी अहमदहसन, रामपाल और हरचरण सिंह को साथ लेकर कमरे के अन्दर आती है। तारा हरचरण सिंह की ओर टकटकी लगाकर देखती है।]

हरचरण सिंह—

(फर्श की ओर देखते हुए) क्या आज्ञा है ?

तारा—

मैं यह पूछना चाहती हूँ कि आपने हम लोगों को भूखों मारने पर क्यों कमर कस ली है ?

हरचरण सिंह—

इसलिए कि आपका सुधार हो सके।

तारा—

परन्तु हम नहीं चाहते। इस अवस्था में आप हम पर ज़बरदस्ती क्यों मेहरबानी करते हैं ?

हरचरण सिंह—

आप चाहें या न चाहें, परन्तु हम आपके लिए प्रयत्न करेंगे।

तारा—

पर क्यों ?

हरचरण सिंह—

क्योंकि आपका पेशा पाप है।

तारा—

अच्छा, मैं आपसे एक प्रश्न पूछ सकती हूँ ?

हरचरण सिंह—

(सिर झुकाकर) पूछिए !

तारा—

आप स्वराज्य चाहते हैं ?

हरचरण सिंह—

हाँ, चाहते हैं।

तारा—

उसमें आपको स्वतन्त्रता होगी क्या ?

हरचरण सिंह—

बराबर होगी ।

तारा—

परन्तु हमको भी उस स्वतन्त्रता का कुछ भाग मिलेगा या नहीं ?

हरचरण सिंह—

आपको स्वतन्त्रता होगी, परन्तु व्यभिचार फैलाने की नहीं । हम ऐसा स्वराज्य चाहते हैं जिसमें प्रकाश हो, परन्तु जलन न हो । सुन्दरता हो, परन्तु कुपथ न हो । स्वतन्त्रता हो, परन्तु किसी का स्वत्व न छीना जाये । हम ऐसा स्वराज्य चाहते हैं, जो चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल, ओस की बूँद के समान पवित्र, आकाश की तरह विस्तृत और समुद्र-जल के सदृश स्थिर हो । जिसमें मनुष्य मनुष्य से न डरे, जिसमें बड़े-छोटों को निगलने न पायें, जिसमें सचाई और सज्जनता रुपयों के मोल न बिक सके । हमारा स्वराज्य अछूतों को ऊँचा करेगा, और जाति की कुपथ में पड़ी हुई पुत्रियों को विनाश से बचाकर जीवन के तीर पर लगा देगा ।

रामपाल—

सत्य है !

तारा—

परन्तु हम नहीं चाहते तो...

हरचरण सिंह—

कोई चाहे अथवा न चाहे, परन्तु सूरज सब स्थानों पर चमकता है, वर्षा सर्वत्र होती है ।

अहमदहसन—

इसी तरह स्वराज्य तमाम हिन्दुस्तानियों को जिनका जिस्म इस सर-ज़मीन की मिट्टी से बना है, एक-सा लाभ पहुँचायेगा ।

तारा—

यह अद्भुत लाभ है, जो ज़बरदस्ती पहुँचाया जाता है।

हरचरण सिंह—

तुम परदा करती हो ?

तारा—

नहीं।

हरचरण सिंह—

क्यों नहीं ?

तारा—

यह अनुचित है, इसे उड़ाना चाहिए।

हरचरण सिंह—

परन्तु बहिन ! हमारी स्त्रियाँ कहती हैं, परदे में बड़ी बड़ाई है।

तारा—

उनका विचार झूठा है।

हरचरण सिंह—

अर्थात् सैकड़ों वर्षों के दासत्व ने उनके मस्तिष्क बिगाड़ दिये हैं।

तारा—

हाँ, आपने मेरी बात की व्याख्या कर दी है।

हरचरण सिंह—

तो उनकी चीख-पुकार की परवा न करके उनका परदा उठा देना चाहिए ?

तारा—

मेरा विचार है, अवश्य उठा देना चाहिए।

हरचरण सिंह—

अब क्या यही अवस्था आपकी नहीं है ? क्या आपको भी अपनी जंजीरों से प्रेम नहीं हो गया है ? इसलिए...

अहमद—

(सीटी की आवाज़ सुनकर) वक्त हो गया है, हमको बाहर बुलाया जा रहा है।

हरचरण सिंह—

चलो।

(प्रस्थान)

तारा—

रामप्यारी !

रामप्यारी—

कुछ परिणाम न निकला ! आपका तो उन्होंने मुँह ही बन्द कर दिया।

तारा—

क्या कहती हो ? उनकी युक्तियाँ बड़ी ज़बरदस्त थीं रामप्यारी !

रामप्यारी—

फिर अब क्या विचार है ? अरे—यह क्या ! आप तो रो रही हैं !

तारा—

(रोकर)—रामप्यारी ! मैंने उनको क्यों बुलाया। उन्होंने मुझे मेरी अपनी आँखों में गिरा दिया है। विनाश की नदी में बही जा रही थी। चारों ओर अन्धकार था, चित्त प्रसन्न था, अंतःकरण सोया हुआ था। इन बालकों ने मुझे प्रकाश दिखाकर मेरी आँखें खोल दी हैं। मुझे दिखा दिया है कि मैं भारत के गौरव को नष्ट करनेवाली, देश और जाति के उज्ज्वल मस्तक पर कलंक लगाने वाली हूँ—मेरा अंतःकरण मुझे धिक्कार रहा है।

रामप्यारी—

यह आप क्या कह रही हैं ?

तारा—

नहीं रामप्यारी ! नहीं। मुझे धोखा न दो। मेरी खुली हुई आँखों को बन्द न करो। सचमुच यह पाप है।

रामप्यारी—

पाप है!

तारा—

जिस पवित्र भूमि में महात्मा गान्धी जैसे देवता, पण्डित मोतीलाल जैसे त्यागी और डाक्टर अंसारी जैसे वीर पुत्र उत्पन्न हों, वहीं मेरी जैसी निर्लज्ज स्त्रियाँ हों, यह कैसी अपमानजनक बात है। देश में जागृति हो रही है, जाति उन्नति के पथ पर बढ़ी जाती है, परन्तु हमारे शरीर पत्थर की तरह रास्ता रोके पड़े हैं। मैं अब यह पाप नहीं कर सकती।

(बाहर से गाने की आवाज़ आती है।)

रामप्यारी—

वे गा रहे हैं।

तारा—

क्या गा रहे हैं?

रामप्यारी—

ज़रा कान लगाकर सुनो। आवाज़ बहुत साफ़ है।

(बाहर से गाना सुनाई देता है।)

गाना।

वह असीरे दामे बला हूँ मैं, जिसे साँस तक भी न आ सके।
वह क़तीले ख़ंजरे नाज़ हूँ जो न आँख अपनी उठा सके।
मुझे आसमाँ ने मिटा दिया, मुझे हर नज़र ने गिरा दिया,
मुझे ख़ाक में ही मिला दिया, कि न हाथ कोई लगा सके।
मेरी शर्मो इज्ज़त लूट ली, मेरे ताजे सर को पलट दिया,
मेरी शक्ल तक भी बिगाड़ दी, कि नज़र में भी न समा सके।

(कोलाहल होता है; उसमें गाने की आवाज़ दब जाती है।)

तारा—

रामप्यारी!

रामप्यारी—

कैसा करुणाजनक गीत है !

तारा—

तुम इसे गीत कहती हो ! यह गीत नहीं, मेरे आचरण का दर्पण है। मेरे हृदय को कँपा देनेवाली मेरी अपनी कहानी है। क्या तुमने नहीं सुना—

मेरी शर्मो इज्ज़त लूट ली मेरे ताज़े सर को उलट दिया।

मेरी शक्ल तक भी बिगाड़ दी कि नज़र में भी न समा सके।

ओह परमात्मा ! कितनी दुराचारिणी, कितनी निर्लज्ज हो गई हूँ। जब उस पवित्र लड़के ने मुझे बहन कहकर पुकारा, उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश गिर पड़ेगा। ऐसी बात उसके मुँह से क्यों निकल गई ? क्या मैं भी उसे भाई कहकर बुला सकती थी, नहीं—नहीं, मेरे होंठ थर्राकर बन्द हो जाते और उन पर शब्द जमकर रह जाते। मेरी दुष्ट आँखें किसी भाई को नहीं ढूँढ़तीं, उनको केवल पैसे की लालसा है।

[बाहर कोई सांकली हिलाता है। रामप्यारी दरवाज़ा खोलने जाती है।]

इस समय यह कौन हो सकता है ! क्या दिलावर सिंह ? परन्तु उसको उन्होंने इजाज़त कैसे दे दी ! देवताओ ! यदि यह वही है, तो उसे दरवाजे पर ही रोक दो—उसकी प्रेम-रस से डूबी हुई दो बातें मेरे साहस को तोड़ देंगी—कौन वही दिलावर सिंह !

[दिलावर सिंह का प्रवेश]

दिलावर सिंह—

हाँ मेरी जान ! मैं वही दिलावर सिंह तुम्हारा दास हूँ।

तारा—

ठहरो ! पहले मेरी एक बात का उत्तर दो।

दिलावर सिंह—

आज कुछ मिजाज़ बदला हुआ है !

तारा—

तुम अन्दर कैसे आ गये ! क्या उन्होंने द्वार पर तुम्हें नहीं रोका ?

दिलावर सिंह—

उन्होंने रोका। परन्तु मैंने उत्तर दिया, मैं नहीं रुक सकता।

तारा—

ख़ैर, फिर—

दिलावर सिंह—

फिर उन्होंने मुझे उपदेश दिये, कहा—यह पाप है। परन्तु मैंने उत्तर दिया—भाई मैं मानता हूँ, पर अन्दर अवश्य जाऊँगा। इस पर वे भूमि पर लेट गये, और बोले—ऊपर से गुजर सकते हो।

तारा—

तो इसके बाद—बोलो।

दिलावर सिंह—

मुझे उनको रौंदकर अन्दर आना पड़ा।

तारा—

ओ पापी ! गुनहगार ! तुमने अपने गन्दे पाँव उनके पवित्र शरीरों पर रखे, और तुम्हें लज्जा न आई। पुण्य को पाप ने पाँवों से मसला और तुम्हारी अंधी आँखों में पानी न भर आया। तुम इतने ढीठ और निर्लज्ज हो गए, मुझे यह आशा न थी। रात का समय है, सरदी पड़ रही है, लोग अपने-अपने घरों में रजाइयाँ ओढ़कर सो रहे हैं, परन्तु यह बेचारे बालक, पापी जीवों को बचाने के लिए, शीत, वायु और दूसरे खतरों का सामना कर रहे हैं। तुमने इसका ज़रा भी विचार नहीं किया। तुमने उस प्रेम की ओर ध्यान न दिया, इसके लिए यह तुम्हारे जैसे शराबी, कबाबी, लफंगे के सामने लेट गये। तुम उनके ऊपर से गुज़र कर अन्दर आ गये !

दिलावर सिंह—

तारा…।

तारा—

तुम्हारे पाँव क्यों न टूट गये ! तुम्हारी जीभ क्यों न कट गयी ! ताकि तुम यहाँ न आये होते। पता नहीं यह पाप मुझे कौन-सा बुरा दिन दिखायेगा। यह मेरे द्वार पर हुआ है, मेरे कारण हुआ है, इसका भार मेरे सिर पर है। उठो, निकलो, मेरे मकान से चले जाओ। मैं तुम्हारा मुँह देखना पसन्द नहीं करती।

दिलावर सिंह—

ऐसा जान पड़ता है, आज भक्ति का रंग चढ़ गया है।

तारा—

तुम सुनते हो ? मैंने क्या कहा है ?

दिलावर सिंह—

सुन रहा हूँ।

तारा—

तो बाहर निकल जाओ। मैं तुमसे कोई संबन्ध नहीं रखना चाहती।

दिलावर सिंह—

तारा ! मैं तुम्हारे लिए सोने के कड़े लाया था।

तारा—

जाकर कुएँ में फेंक दो।

दिलावर सिंह—

पगली हो गई है !

तारा—

हाँ, मैं पगली हो गई हूँ, और चाहती हूँ, कि परमात्मा मुझे पगली ही बनाये रखे। तुम चले जाओ, मैं बार-बार कह रही हूँ !

दिलावर सिंह—

तुम क्या कह रही हो ? जानती हो ?

तारा—

हाँ, जानती हूँ।

दिलावर सिंह—

इसका परिणाम भी जानती हो ?

तारा—

मेरा ख़्याल है, जानती हूँ।

दिलावर सिंह—

फिर सोच लो।

तारा—

सोच चुकी हूँ।

दिलावर सिंह—

पीछे पछताओगी।

तारा—

देखा जायगा।

दिलावर सिंह—

बहुत अच्छा ! तो मैं जाता हूँ।

(प्रस्थान)

तारा—

शुक्र है, मैं पहली परीक्षा में तो सफल हुई। मगर हृदय क्यों धड़कता है ? अभी तो मंज़िल दूर है। पर यह बेचारे बालक कबतक पहरा देते रहेंगे। (ऊँची आवाज़ से) रामप्यारी !

रामप्यारी (अन्दर आकर)—

कहिये ! क्या हुक्म है ?

तारा—

जाओ, जाकर इन स्वयंसेवकोंसे कह दो, कि मैं यह कुकर्म छोड़ती हूँ। पहरा हटा लें।

रामप्यारी—

अरे !—यह आप करती क्या हैं ?

तारा—

जो कुछ करती हूँ, ठीक करती हूँ और मैंने जो कुछ कहा है वही करूँगी। उनको आदर से रवाना कर दो। मुझे नींद आ रही है। अब मेरे कमरे में आने की कोई आवश्यकता नहीं।

(धीरे-धीरे प्रस्थान।)

———

दूसरा दृश्य

स्थान—गङ्गा के तट पर एक कुटिया

समय—रात का अंतिम पहर

[स्वामी आत्मानन्द, रामपाल और अहमदहसन बातें कर रहे हैं। बीच में आग जल रही है।]

स्वामी आत्मानन्द -

तो उसने प्रतिज्ञा कर ली ?

रामपाल —

जी हाँ ! नहीं तो हम पहरा कैसे हटा सकते थे ?

स्वामीजी—

मगर इस बात का क्या प्रमाण है, कि उसने यह कार्यवाही तुम्हें धोखा देने के लिए नहीं की ?

अहमदहसन—

यकीन नहीं होता।

स्वामीजी—

मगर क्यों नहीं होता?

रामपाल—

उसकी जो दासी हमें कहने आई थी कि पहरा हटा लो, उसका चेहरा बतलाता था, कि वह झूठ नहीं बोल रही है।

अहमदहसन—

उस समय वह उदास-सी हो रही थी।

रामपाल—

और उदास ही नहीं थी, रो भी रही थी।

स्वामीजी—

तो तुम्हें इसका विश्वास है ?

अहमदहसन—

पूरे तौर से।

स्वामीजी—

तो यह एक शुभ समाचार है। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।

रामपाल—

महाराज ! आप हमें लज्जित करते हैं।

स्वामीजी—

नहीं, बेटा ! नहीं। यह काम साधारण नहीं है। इससे देश उन्नति करते हैं, इसी से जातियाँ जीवन के महान क्षेत्र में आगे बढ़ती हैं। इसी से उनके सोये हुए भाग्य जागते हैं और उनको अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। ऐसे समय में जब कि प्रकृति माता भी सोयी हुई हैं, तुम शीत में ठिठुर रहे हो, इसका फल तुम्हें भगवान् देंगे। परन्तु देखना, कहीं किसी पर हाथ न उठा बैठना। नहीं तो तुम्हारा किया-कराया नष्ट हो जायगा। तुमने अहिंसा का व्रत लिया है।

अहमदहसन—

महाराज ! जब उस बदमाश दिलावर सिंह ने हमारे नेकदिल कप्तान हरचरण सिंह के सीने पर पाँव रखा था, उस वक्त मेरा खून जोश में आ गया था। जी चाहता था, उठकर उसका गला पकड़ लूँ, ताकि उसको अपनी बदकिरदारी का नतीजा मालूम हो जाय। इस कद्र खिलाफ फ़ितरत फ़ेल ! पीतल सोने को ठुकरा रहा था। मगर आपके अलफ़ाज कानों में गूँज रहे थे। उन्होंने उठते हुए जोश को दबा दिया।

स्वामीजी—

शाबाश !

रामपाल—

स्वयंसेवक चीख रहे थे, उनके शरीर दले जा रहे थे, और वह कामान्ध बेपर्वाही से मकान के दरवाज़े की ओर जा रहा था। मानो उसके नीचे जीते-जागते मनुष्य नहीं केवल लाशें पड़ी थीं।

स्वामीजी—

ऐसा प्रतीत होता है, इसी बात ने तारा के हृदय पर चोट पहुँचाई और उसके विचार एकबारगी बदल गये। पाप और पुण्य में एक कदम का फ़ासिला है।

रामपाल—

A man changes in a minute.

स्वामीजी—

(हँसकर) तुम यह गिट-पिट क्या कर गए ?

अहमदहसन—

अंगरेज़ी में कहते हैं, कि आदमी जब बदलने पर आता है तो एक लहमे में तबदील हो जाता है।

स्वामीजी—

सच है। तारा का सुधार कई दूसरी वेश्याओं के सुधार का कारण होगा। कौन ? हरचरण सिंह !

[हरचरण कुछ उठाये हुए अन्दर आता है।]

हरचरण सिंह—

स्वामीजी ! प्रणाम !!

स्वामीजी—

आशीर्वाद बेटा ! यह किसे उठा लाये हो ?

हरचरण सिंह—

तारा को।

स्वामीजी—

(साश्चर्य) तारा को !

हरचरण सिंह—

रात को अपने कुकर्मों पर पछताई, और अब गङ्गा में डूबने गई थी। अगर मैं कुछ देर न पहुँचता, तो इसके जीवन का अन्त हो जाना निश्चित था। (रामपाल से कम्बल लेकर तारा के मूर्छित शरीर पर डालता है।)

अहमदहसन—

तो यह डूबने चली थी ?

हरचरण सिंह—

(अपने कपड़े निचोड़ते हुए अग्नि के समीप बैठकर) मेरा यही विचार है।

स्वामीजी—

स्त्री सदैव पराष्ठा पर रहती है। या परम पवित्र या सर्वथा नीच।

हरचरण सिंह—

(ठिठुरते हुए) तो अब इसका ध्यान रखना चाहिए। कहीं मर न जाय।

स्वामीजी—

इसकी चिन्ता न करो (अहमदहसन से) तुम अँगीठी इसके समीप कर दो। मेरा विचार है इस समय तक कोई माई घाटपर आ गई होगी।

रामपाल—

जी हाँ, अब तो दिन निकलनेवाला है।

स्वामीजी—

तो तुम किसी माईको बुला लाओ, मैं औषधि लेकर आता हूँ। (प्रस्थान)

अहमदहसन—

(हरचरण सिंह से) यार ! बड़े खुशनसीब हो। तुमसे बड़े सवाब का काम हुआ है।

हरचरण सिंह—

यह सब परमात्मा की कृपा है।

अहमदहसन—

मेरा ख्याल है, कि यह औरत बड़ा काम कर सकती है।

(स्वामीजी का प्रवेश)

स्वामीजी—

इसमें क्या सन्देह है ! जो मरने पर तैयार हो सकती है, वह अगर काम करने पर उद्यत हो जाय, तो कौन-सी कठिनाई है जो इसके मार्ग में खड़ी हो सकती है। ऐसी स्त्रियाँ पर्वतों को हिला सकती हैं, नदियों को चीर सकती हैं।

(रामपाल का एक वृद्धा स्त्री के साथ प्रवेश)

वृद्धा—

(स्वामीजी के सामने झुककर) महाराज ! प्रणाम।

स्वामीजी—

(हाथ उठाकर) आशीर्वाद माई ! यह औषधि तेल में मिलाकर इस लड़की के शरीर पर मल दो और आग का सेंक करो। अभी सचेत हो जायगी। आओ पुत्रो ! हम परे हो जायँ।

[सबका चला जाना। वृद्धा का औषधि मलना, तारा का सचेत होना।]

तारा—

हाय ! (करवट बदलती है और आँख खोलती है)

वृद्धा—

क्यों बेटी ?

तारा—

(चौंककर) कौन ! मैं कहाँ हूँ ? भोली, रामप्यारी !!

(जोर से उठती है।)

वृद्धा—

लेटी रहो बेटी ! हवा लग जायगी।

तारा—

ओह ! ओह ! मुझे सब कुछ याद आ रहा है। मैंने रात कानों को हाथ लगाया

था। परन्तु पीछे भयानक स्वप्न सताने लगे, मैं उठकर बैठ गई उस समय दो बजे थे। लोग सोये हुए थे, परन्तु मेरी आँखों में नींद के स्थानमें आँसू, और मस्तिष्क में शान्ति के स्थान में बेचैनी भरी हुई थी। अतीत काल का एक-एक दिन आँखों के सामने फिरने लगा। अन्तःकरण ने धिक्कारा, हृदय ने भय दिखलाया। मैं मरने को तैयार हो गई। फिर मुझे किसने बचा लिया (रोकर) यह अनर्थ किसने मुझ पर किया ? माई ! (फिर रोती है।)

वृद्धा—

रोती क्यों हो बेटी ?

तारा—

तो तुमने यह अनर्थ मुझ पर क्यों किया है ! मैंने तुम्हारा कभी कुछ नहीं बिगाड़ा था।

वृद्धा—

मैंने तुम पर क्या अनर्थ किया है बेटी !

तारा—

तुमने मुझे बचा लिया है, यही तुम्हारा अनर्थ है। इससे बड़ा अनर्थ और क्या हो सकता है ?

वृद्धा—

बेटी…

तारा—

मैं वेश्या हूँ।

वृद्धा—

(खड़ी होकर) तुम वेश्या हो ? हरे राम ! यह स्वामीजी ने क्या कर दिया ? मेरे हाथ अपवित्र हो गये।

तारा—

ओह ! मैं इतनी पतिता हूँ, कि लोग मुझे छूना भी पाप समझते हैं। इस अवस्था में मेरा जीता रहना आप पर अत्याचार करना है। मैं गंगा की गोद में जा

रही थी। उसने मुझे छूने से इन्कार न किया था। परन्तु तुमने मुझे जीते संसार में खींच लिया। इससे अधिक और क्या हो सकता है, कौन......है......कौन ?

(स्वामीजी, हरचरण सिंह, अहमदहसन, रामपालका आना)

स्वामीजी—

बहुत अच्छा ! बच गई। अब इसे कोई भय नहीं।

वृद्धा—

महाराज ! आपने इसे मेरे हाथ क्यों सौंप दिया। मेरा शरीर अपवित्र कर दिया। यह तो वेश्या है।

तारा—

आपने मुझे क्यों बचाया ? मैं अपना पाप मिटाने आई थी। यह पापी शरीर जब तक आँखें बन्द थीं, तब तक खाता-पीता और सुख भोगता रहा। परन्तु इन भाइयों ने, जिनको भाई कहकर पुकारते समय मेरे होंठ जम जाते हैं, रात मेरी आँखें खोल दी हैं, और मैं जान गई हूँ, कि मैं जीवन की धरोहर में अधर्म करती रही हूँ। अब मैं इस शरीर के साथ जीते रहना नहीं चाहती। मगर आपने मुझे बचा लिया और इसलिए बचाया, कि मैं इस प्रकार के शब्द सुनूँ और दिन-रात रोया करूँ।

स्वामीजी—

तुम दोनों भूल पर हो।

वृद्धा—

महाराज ! आपने मुझ पर तो अनर्थ किया।

स्वामीजी—

माई ! मनुष्य-देह एक पवित्र वस्तु है, इसकी रक्षा करना एक महा पुण्य है। यह वेश्या थी, परन्तु इसको बचाने से तुम्हारा शरीर भ्रष्ट नहीं हो गया। इन्हीं भावों ने हिन्दू-जाति की नौका डुबो दी है। इसके शब्द सुनो। इसकी बातों पर ध्यान दो। कल तक यह वेश्या थी, परन्तु आज से देवी है।

तारा--

नहीं महाराज ! इस पवित्र शब्द का निरादर न कीजिए। मैं इसके सर्वथा अयोग्य हूँ। मैं तो सदाचार का कलंक, उन्नति के मार्ग की बाधा और जीवित-जागृत नीचता हूँ। मुझे इस शब्द से न पुकारिये।

स्वामीजी—

बेटी ! सभी स्त्रियाँ संन्यासी की बेटियाँ होती हैं। तेरे शब्दों से जान पड़ता है, कि तू अब पछता रही है। यदि सचमुच तू पश्चात्ताप करना चाहती है, तो विधिपूर्वक पश्चात्ताप कर, और संसार की जितनी हानि कर चुकी है, उससे दुगुना उपकार कर। पापों का पलड़ा हल्का हो जायगा।

तारा—

मालूम होता है, मैं अभी तक सोई हुई थी, आपने मुझे एक नया रास्ता दिखा दिया है। वास्तव में आपकी बात सच है। यदि मैं इस समय मर जाऊँ तो पाप का पुंज साथ ले जाऊँगी। परन्तु यदि जीती रहकर पुण्य के मार्ग पर चलूँगी तो पाप का बोझ हल्का हो जायगा।

स्वामीजी—

तो तुम ज़िन्दा रहोगी ?

तारा—

हाँ, महाराज ! ज़िन्दा रहूँगी। आप मेरा हाथ थामकर सुमार्ग पर चलायें। फिर भूल न होगी।

स्वामीजी—

तुम्हारी वाणी में माधुर्य है, तुम्हारे शब्दों में रस है। जब तुम बोलती हो, तो सुननेवालों पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए अपनी भूली हुई बहनों का सुधार करो, और जिस गुफा से स्वयं निकल चुकी हो उससे उनको भी निकालने का यत्न करो।

तारा—

मैं यत्न करूँगी।

रामपाल—

बहन ! यह दिलावर सिंह की माँ हैं।

तारा—

उसका नाम न लो, मेरे कान जहरीले हो जायँगे। परन्तु इनके पाँवों की ओर दृष्टि करने से हृदय में पुण्य की तरगें उठने लगती हैं। क्या स्वर्ण की खान से पीतल का टुकड़ा भी निकल सकता है ?

स्वामीजी—

इसकी बात-बात में कविता भरी हुई है।

वृद्धा—

यह तुम क्या कह रही हो ?

तारा—

कुछ नहीं माता ! इसके सुनने से तुम्हें लाभ न होगा।

वृद्धा—

तो भी तुम्हारा प्रयोजन क्या है ?

तारा—

अपने बेटे को सुधारने का यत्न करो। मैं अधिक क्या कह सकती हूँ। हाँ, इतना ही कह सकती हूँ, कि मैं वेश्या थी और वह .

(जल्दी से चली जाती है)

स्वामीजी—

जाओ माई ! अपने बेटे को नेक बनाने का यत्न करो।

(वृद्धा का प्रस्थान)

हरचरण सिंह ! मैं तुम्हें बधाई देता हूँ। तुम्हारा प्रयत्न इतना सफल होगा, इसकी मुझे कल्पना तक न थी।

हरचरण सिंह—

महाराज ! यह सब आपकी ही कृपा है।

तीसरा दृश्य ।

स्थान—नगर का एक खुला बाज़ार ।

समय—दोपहर

[सब ओर से लोग इधर-उधर जा रहे हैं । एक ओर दो अदमी खड़े आपस में बातें कर रहे हैं]

एक—

यार ! कमाल की औरत है !

दूसरा—

उसकी बाणी बड़ी रसीली है । बोलती है तो कलेजों में आग लगा देती है ।

तीसरा—

देखो न ! थोड़े ही दिनों में उसने नगर की काया पलट दी है । कितनी रण्डियाँ इस समय तक तोबा कर चुकी हैं !

पहला —

तेरह ।

दूसरा—

मामूली बात नहीं है भाई !

तीसरा—

और सबसे बड़ी सफलता यह है, कि उसने महबूब जान को भी मनवा लिया है । यह असंभव-सा जान पड़ता था ।

दूसरा—

आश्चर्य है ।

तीसरा —

सुना नहीं !

काहू न अबला कर सके, काहू न सिन्धु समाय,
काहू न पावक जर सके, काल काहि नहिं खाय ।

पहला—

एकबारगी पलटी है।

दूसरा—

अपना सारा रुपया दान कर दिया।

तीसरा—

उसे रुपये की क्या परवाह है? लोग उसकी राह में आँखें बिछा रहे हैं।

पहला—

दिन-रात काम करती है।

दूसरा—

और मशीन की तरह। न थकती है, न घबराती है। दिन-रात काम में लगी रहती है।

तीसरा—

वह अपने पहले पापों का प्रायश्चित्त कर रही है। वह क्या है? बहुत-से लोग आ रहे हैं।

पहला—

(देखकर) ऐसा मालूम होता है कि वालंटियरों का जुलूस है।

दूसरा—

परन्तु गवर्नमेण्ट ने हुकुम दे दिया है कि जुलूस न निकाले जायँ।

तीसरा—

तो मालूम हुआ, सिविल नाफरमानी शुरू हो गई है।

पहला—

इसका अर्थ यह है, कि यह लोग कैद के लिए तैयार हैं।

दूसरा—

पूर्णरूप से।

पहला—

जोश बढ़ रहा है।

दूसरा—

बड़ी तेज़ी से।

तीसरा—

देखो न! कैसी सजधज से चले आ रहे हैं, मानो उनको कुछ भी पर्वाह नहीं है।

दूसरा—

और सुनना, उनका गीत कैसा करुणाजनक है।

पहला—

चुप! ज़रा सुन लेने दो। सँभलकर खड़े होना, रेले में कहीं इधर-उधर न हो जाना।

[स्वयंसेवक जातीय झंडा लिये आते हैं। उन सबके आगे हरचरणसिंह हैं। स्वयंसेवक गा रहे हैं।]

गीत

अरे भारत! उठ आँखें खोल।

अवसर तेरे लिए पड़ा है, फिर भी तू चुपचाप खड़ा है,
तेरा कर्मक्षेत्र बड़ा है! पल पल है अनमोल।
अरे भारत! उठ आँखें खोल।
बहुत हुआ अब क्या होना है! रहा-सहा भी क्या खोना है!
तेरी मट्टी में सोना है! तू अपने को तोल।
अरे भारत! उठ आँखें खोल।

दर्शक—

भाइयो! चुप-चुप। कुछ सुनने दो, सुनने दो।

दूसरी आवाज़—

बिल्कुल खामोश रहो।

(स्वयंसेवक)

गीत

दिखलाकर भी इतनी माया ! अब तक जो न जगत् ने पाया !
देकर वही भाव मन भाया ! जीवन की जय बोल ।
अरे भारत ! उठ आँखें खोल ।

(पुलिस-कर्मचारियों का सहसा प्रवेश)

सबइंसपेक्टर—

बस ! मैं इसकी इजाज़त नहीं दे सकता । मैं हुक्म देता हूँ कि मजमा मुंतशिर हो जाय ।

दर्शक—

हम नहीं जायेंगे ।

हरचरण सिंह—

आपको चले जाना चाहिए ।

दर्शक—

परन्तु क्यों ?

हरचरण सिंह—

क्योंकि हमारे लीडरों का यही हुक्म है ।

दर्शक—

इस अवस्था में हम इन्कार नहीं कर सकते ।

सबइंसपेक्टर—

सिपाहियो ! डंडे बरसाकर इनको मुंतशिर कर दो ।

हरचरण सिंह—

परन्तु मैं इस हुक्म के विरुद्ध प्रोटेस्ट करता हूँ ।

सबइंसपेक्टर—

इस प्रोटेस्ट की परवा कौन करता है ? (सिपाहियों से) हटाओ इन पाजियों को ।

[सिपाही डंडे बरसाते हैं। लोग शोर मचाते हुए भागते हैं। स्वयंसेवक शान्ति से बैठ जाते हैं और गाना शुरू करते हैं।]

गीत

सुनो सब नवयुग का सन्देश।

सबइंसपेक्टर—

खामोश! मैं इस बेहूदगी को बर्दाश्त नहीं कर सकता। (स्वयंसेवक चुप हो जाते हैं) यह जुलूस किसके हुक्म से निकला है?

हरचरण सिंह—

(आगे बढ़कर) इसका उत्तरदायित्व मुझ पर है।

सबइंसपेक्टर —

तुम जानते हो इससे नक्से अमन का अन्देशा है?

हरचरण सिंह—

कम-से-कम हमारी ओर से नहीं। हमने शान्त रहने का प्रण किया है। जिसको तोड़ना हमारे लिए महान् पाप है।

सबइंसपेक्टर—

मैं हुक्म देता हूँ कि तुम सब मुंतशिर हो जाओ।

हरचरण सिंह—

मैं नम्रतापूर्वक अपने स्वयंसेवकों को सलाह देता हूँ, कि वे चुपचाप बैठे रहें।

स्वयंसेवक—

हम नहीं उठेंगे। यह हमारी परीक्षा का समय है।

सबइंसपेक्टर—

याद रखो! इसका नतीजा, गिरफ्तारियाँ होंगी।

अहमदहसन—

इसके लिए हम मुद्दत से तरस रहे हैं। आप हमारी ख्वाहिश पूरी कर देंगे।

सबइंसपेक्टर —

तुम सब लोगों को जेलखाने में सड़ना पड़ेगा।

रामपाल—

जेलखाने को हम स्वराज्य का मंदिर समझते हैं।

सबइंसपेक्टर—

मगर वह माँ की गोद नहीं है। वहाँ तकलीफें उठानी पड़ेंगी।

एक स्वयंसेवक—

उसके लिए हम घर से तैयार होकर आये हैं।

सबइंसपेक्टर—

मगर तुम्हारा यह नशा बहुत जल्द उतर जायेगा।

हरचरण सिंह—

शोक है, भारतवर्ष की अपनी सन्तान भारत के पवित्र भाव का अपमान कर रही है।

सबइंसपेक्टर—

(एक सिपाही से) गिरफ्तार कर लो। हथकड़ी लगा दो।

हरचरण सिंह—

अहोभाग्य, परमात्मा को धन्यवाद है।

क़ौम की खातिर मरो दुनिया में यह तौक़ीर हो।
हाथ में हो हथकड़ी और पाँवों में जंजीर हो।

सबइंसपेक्टर—

जेलखाने में जाकर यह सारी शेरबाज़ी भूल जाओगे।

(सिपाही हरचरण सिंह को हथकड़ी लगा लेता है।)

सब स्वयंसेवक—

(चिल्लाकर)—"भारत-माता की जय!"

सबइंसपेक्टर—

(अहमदहसन और रामपाल की ओर उँगली करके) इन्हें भी पकड़ लो।

रामपाल—

पकड़ लो, ताकि कोई कसर न रह जाय।

इतना तो हो हुजूम कि तिलभर जगह न हो।
सैयाद खुद पुकार उठे अब कफ़स गया।

अहमदहसन—

हुर्रियत[1] ताबीर है कैदे गिरां के ख्वाब की।
राज़ कुर्बानी है कुंजो जिंदगी के बाब की।

सबइंसपेक्टर—

माफ़ी माँग लो तो रिहा कर दिये जाओगे।

हरचरण सिंह—

जनाब इंसपेक्टर साहब माफ़ी! हम माफ़ी माँगने के लिए घर से नहीं निकले। हम अपनी बलि देने के लिए मैदान में कूदे हैं।

तलब फ़जूल है काँटे की फूल के बदले।
न लें बहिश्त भी हम होमरूल के बदले।

सबइंसपेक्टर—

मालूम होता है, मुशायरा शुरू हो गया।

[सिपाहियों को इशारा करता है। सिपाही सब स्वयसेवकों को डंडे मारते हुए ले जाते हैं, हरचरण सिंह प्रोटेस्ट करता है।]

हरचरण सिंह—

मैं पूछता हूँ, यह मारपीट किस कानून से की जाती है। आप हमें गिरफ्तार करते हैं। हम अपने आपको आपके हवाले कर देते हैं। फिर यह मारपीट क्यों?

सबइंसपेक्टर—

इस वक्त हमारी मर्ज़ी हमारा कानून है।

हरचरण सिंह—

(सोचकर) बहुत अच्छा ! चलिए ।

(कुछ लोगों का एकाएक प्रवेश)

एक—

ठहरिए ! हमें अपने सुपूतों को तिलक लगा लेने दीजिए ।

दूसरा—

उनके गले में फूलों के हार पहना लेने दीजिए ।

सबइंसपेक्टर—

हाँ ! लेकिन यह खिलाफ़ कानून है ।

तीसरा—

इंस्पेक्टर साहब, आप यह क्या कर रहे हैं ? जब आप शान्ति से खड़े हुए लोगों पर डंडे बरसाते हैं, जब आप गरीब स्वयंसेवकों को मारते हैं, जब आप मनुष्यत्व और सभ्यता से गिरी हुई गालियाँ देकर अपने हृदय को पवित्र और सुननेवालों के कानों को कृतार्थ करते हैं, उस समय आपको कानून याद नहीं आता। जब आपमें से बाज़ दोनों हाथ से रिश्वत खाते हैं, उस समय उनको कानून भूल जाता है । परन्तु इस समय कानून आपको याद आ गया है । क्या आप अपने धर्म से, ईमान से कह सकते हैं कि यह बात कानून के विरुद्ध है ?

[इंसपेक्टर साहब चुप रहते हैं । लोग वालंटियरों की आरती करते हैं और उनके गले में फूलों के हार पहनाते हैं ।]

हरचरण सिंह—

(उच्च स्वर से) भाइयो ! हम जा रहे हैं । देखना हमारा काम बन्द न होने पाये । हम कष्ट उठायेंगे, विपत्तियाँ झेलेंगे और यदि आवश्यकता हुई तो जान तक दे देंगे, परन्तु हमारा हृदय शान्त रहेगा । मगर यदि हमको यह मालूम हुआ, कि हमारा काम हमारे पीछे बन्द हो गया है, अथवा उसकी गति ढीली पड़ गई है, तो हमारे हृदय पर छुरियाँ चल जायेंगी । जाओ, हमारे माता-पिताओं को बधाई दो ।

हमारे काम को चलाये जाओ, स्वयंसेवक भर्ती हों। स्वदेशी की उन्नति करो और हिन्दू-मुसलिम-एकता के महत्त्व को समझो।

(एकाएक तारा का प्रवेश)

तारा—

भारत के वीरो! विश्वास रखो, तुम्हारा काम बराबर होता रहेगा। मैं इसके लिए अपने जीवन का एक-एक क्षण अर्पण कर दूँगी। स्वराज्य-मन्दिर को जा रहे हो, तो शान्ति से जाओ। तुम अपना काम कर चुके, अब दूसरों की बारी है।

हरचरण सिंह—

(आनन्द से झूमते हुए)—बहन! क्या तुम यह काम जारी रखोगी?

तारा—

हाँ, भाई! जारी रखूँगी और उस समय तक जारी रखूँगी जब तक मेरे शरीर में रक्त का अन्तिम बिन्दु और उस बिन्दु में जीवन है। एक वह दिन था, जब तुमने मुझे बहन कहकर मेरी अपनी दृष्टि में लज्जित कर दिया था। परन्तु आज तुम्हें भाई कहते हुए मेरे होंठ फूले नहीं समाते। यह सब तुम्हारे यत्नों का फल है।

हरचरण सिंह—

इस स्त्री का हृदय कैसे पवित्र भावों से भरपूर है!

तारा—

नहीं, वह तुम्हारे अपने हृदय की छाया है।

रामपाल—

कवित्व-भाषिणि! अपने मधुर वाक्-रस से नगर में जीवन का संचार करना।

(पुलिस के सिपाहियों का स्वयंसेवकों को ले जाना।)

तारा—

जाओ! देशप्रेमियों के आशीर्वाद तुम्हारे साथ जा रहे हैं।

स्वयंसेवक—

(जोर से चिल्लाकर) "भारत-माता की जय।"

(प्रस्थान)

तारा—

धन्य हैं ऐसे मनुष्य जिनके हृदयों में देश-भक्ति का प्रकाश जगमगा रहा है। धन्य हैं उनके माता-पिता जिनको आत्मगौरव का अवसर मिला है। उन्होंने अपना मस्तक ऊँचा किया है, अपने पूर्वजों के गौरव को लोगों के हृदयों में फिर से सजीव कर दिखाया है। यह स्वतन्त्रता के पतंगे हैं, यह देश और जाति के हित में बावले हो रहे हैं। इन्होंने अपना सुख दूसरों के जन्म-सिद्ध अधिकार के लिए बेच दिया है। ये मनुष्य नहीं, देवता हैं। इन्होंने जेल का स्वयं आह्वान किया है। इनका नाम भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। लोग इन पर प्रेम और श्रद्धा के फूल चढ़ायेंगे। परन्तु इनके काम को जारी रखने के लिए अगणित स्वयंसेवकों की आवश्यकता है। साहस करो, आगे बढ़ो। बोलो, तुममें से कौन सबसे पहले अपना नाम स्वयंसेवक बनने के लिए पेश करता है।

[चुपचाप रहती है, लोग एक-दूसरे का मुँह ताकते हैं और चुप रहते हैं।]

तारा—

क्या तुम सब चुप हो! कब तक चुप रहोगे! पुरुषाकार नारियो! झूठ न बोलो, तुम पुरुष नहीं हो। पुरुष होते तो एक स्त्री की अपील पर इस तरह चुप न रहते और जोश की अवस्था में आगे बढ़ते। भारत के पुरुषों ने भारत की नारियों की पुकार का सदैव सम्मान किया है। परन्तु तुम उस ख्याति पर पानी फेर रहे हो। बोलो, तुममें से कौन आगे बढ़ता है।

(दिलावर सिंह खड़ा हो जाता है।)

कौन! दिलावर सिंह! तुम...

दिलावर सिंह—

हैरान न हो, आश्चर्य न करो। मैंने अपने आपको बदल लिया है।

तारा—

परन्तु इस मार्ग में काँटे हैं।

दिलावर सिंह—

जानता हूँ तारा!

तारा—

दुःख, कष्ट और विपत्तियाँ हैं।

दिलावर सिंह—

मैं भी अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ। मैं हरचरण सिंह के स्थान पर काम करूँगा।

तारा—

दिलावर सिंह! आज तुमने सचमुच अपने नाम को सार्थक कर दिया है। इस मनुष्य-समूह में तुम्हारी एक मात्र आवाज़ ने सिद्ध कर दिया है कि स्वर्ण का मैल अलग हो चुका है। तुम धन्य हो! आओ गुरुजी स्वामी आत्मानन्दजी के पास चलें।

दिलावर सिंह—

बहन! इस विषय में मेरी गुरु केवल तू है।

[तारा के पाँवों पर झुकता है। स्वामी आत्मानन्द एकाएक प्रकट होकर दोनों को आशीर्वाद देते हैं। लोग भारत-माता की जय की ध्वनि करते और वालण्टियरों में नाम लिखाते हैं।]

(पर्दा गिरता है।)